* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च । नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च । गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

वर्ष ६४ संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि॰ सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, दिसम्बर १९९० ई॰

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.०० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ४४.००रु॰ विदेशमें ६ पौंड अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

श्रीश्रीसरस्वती देवी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

वर्ष ६४ गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, दिसम्बर १९९० ई॰ संख्या ९ पूर्ण संख्या ७६६

भगवती शारदाका ध्यान

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥

जिनका मुख, भुजाएँ, वक्षःस्थल, कटिभाग और पदतलतकका सम्पूर्ण शरीर वर्णमालाके पचास अक्षरोंमें विभक्त है, जिनका मुकुट-मण्डल प्रभापूर्ण चन्द्रकलासे उपनिबद्ध है, जो उन्नत एवं स्थूल उरोजोंसे सुशोभित हैं तथा अपने कर-कमलोंमें रुद्राक्षकी माला, पीयूषपूर्ण कलश, पुस्तक और ज्ञानमुद्रा धारण किये हुई हैं, उन शुभ्र वर्णवाली, तीन नेत्रोंसे युक्त वाणीकी अधिष्ठात्री भगवती शारदाकी हम शरण ग्रहण करते हैं।

कल्याण

याद रखो, विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। जीवके रूपमें शिव ही विविध लीला कर रहे हैं। इसलिये तुम किसीसे घृणा न करो, किसीका कभी अनादर न करो, किसीका अहित मत चाहो। निश्चय समझो, यदि तुमने स्वार्थवश किसी जीवका अहित किया, किसीके हृदयमें चोट पहुँचायी तो वह चोट तुम्हारे भगवान्‌के ही हृदयमें लगेगी। तुम चाहे जितनी देर अलग बैठकर भगवान्‌को मनाते रहो, परंतु जबतक सर्वभूतोंमें स्थित भगवान्‌पर तुम स्वार्थवश चोट करते रहोगे, तबतक भगवान् तुम्हारी पूजा कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

× × ×

सबका सम्मान करो, सबका हित चाहो, सबसे प्रेम करो, आत्माकी दृष्टिसे सब भेदोंको भुलाकर सबको नमस्कार करो। इसका यह अर्थ नहीं कि व्यवहारके आवश्यक भेदको भी मिटा दो। दुष्टबुद्धिवाले पुरुषको जीवन्मुक्त महात्मा मत समझो। मूर्खको विद्वान् समझकर उसकी बात सुनोगे तो गिर जाओगे। विद्वान्‌को मूर्ख मानकर उसकी बात नहीं सुनोगे तो ज्ञानसे वञ्चित रह जाओगे। पापसे घृणा करो, असंयमसे द्वेष करो, दुष्ट आचरणोंसे वैर करो, कुविचारोंका अपमान करो, नास्तिकताका विनाश करो, जिनमें ये दोष हों उनसे अलग रहो, परंतु उनसे आत्माकी दृष्टिसे घृणा न करो। स्वरूपमें अभेद और व्यवहारमें आवश्यक भेद रखो।

× × ×

किसीको नीच, पतित या पापी मत समझो, याद रखो, जिसे तुम नीच, पतित और पापी समझते हो, उसमें भी तुम्हारे वही भगवान् विराजित हैं जो महात्मा-ऋषियोंके हृदयमें हैं। सबको प्रेमदान करो, सबके प्रति सहानुभूति रखो। किसीकी निन्दा न करो। किसीकी निन्दा न सुनो। साधकको तो दूसरेकी निन्दा सहन ही नहीं होनी चाहिये। निन्दा सुननी हो तो अपनी सुनो और करनी आवश्यक समझो तो अपनी सच्ची निन्दा करो।

× × ×

निःस्वार्थ-भावसे सबके साथ प्रेम करो, अपने प्रेमबलसे दूसरोंके चरित्रको सुधारो, उन्हें ऊँचे उठाओ। तुम्हारे आचरण आदर्श होंगे तो तुम अपने स्वार्थहीन प्रेमके बलसे घिरे हुए भाईको ऊँचा उठा सकोगे। याद रखो, शुद्ध आचरणयुक्त निःस्वार्थ प्रेममें बड़ा बल होता है।

× × ×

भगवान् मङ्गलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं, सर्वज्ञ हैं, किसी बातमें कैसे हमारा हित होता है, इस बातको जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो। खुशीसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करो। उनके हाथके दिये जहरमें अमृतका अनुभव करो, उनके हाथकी तलवारमें शान्तिकी छबि देखो, उनके कोमल करस्पर्शसे महिमाको पाये हुए सुदर्शनमें चरम सुखके शुभ दर्शन करो और उनकी दी हुई मौतमें अमरत्वको प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मङ्गलविधानमें उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो।

× × ×

डरो पापसे, अभिमानसे, ममतासे, कामनासे, शोकसे, क्रोधसे, लोभसे, सम्मानसे, बड़ाईसे, ख्यातिसे, पूजासे, नेतृत्वसे, गुरुपनेसे, महन्तीसे, पदवीसे, सभा-समितियोंसे स्वेच्छाचारसे, उच्छृङ्खलतासे, मनमाने आचरणोंसे, इन्द्रियोंकी गुलामीसे, विषयासक्तिसे, मौज-शौकसे, विलासितासे, वादविवादसे, परचर्चासे, परनिन्दासे, परधनसे, परस्त्रीसे; और इनसे यथासाध्य सदा बचे रहो।

× × ×

किसी कामके सफल होनेपर यह मत समझो कि यह तुम्हारी करनीसे हुआ है। तुम तो निमित्तमात्र हो। सफलतापर बड़ाई मिलनेपर खुशीसे फूल मत उठो। यह तो संसारका नियम ही है। सफलतापर सभी बधाई और बड़ाई देते हैं और असफलतापर धिक्कार एवं निन्दा। आज बड़ाईमें फूलोगे तो कल निन्दा सुनकर रोना पड़ेगा। सदा न किसीको सफलता मिलती है, न असफलता।

× × ×

अपनी समझसे कोई बुरा काम न करो, बुरी नीयत मत रखो, फल बुरा हो तो शोक न करो। इसी प्रकार अपनी समझसे अच्छा काम करो, अच्छी नीयत रखो, फल तो विधाताके हाथ है। तुम अपना काम करो। विधाताके विधानको पलटनेकी व्यर्थ चेष्टा मत करो। —**शिव**

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो ?

[गीताभवन-स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनके आधारपर]

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क पृ० सं० ६५४ से आगे]

भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के स्वरूप आदिके श्रवण-मननमें अपना चित्त, अपनी बुद्धि और इन्द्रियाँ लगा देनी चाहिये, साथ ही उत्तम कर्म भी करते रहना चाहिये, तीर्थोंमें आकर उत्तम आचरण करना चाहिये। जैसे—दान, तप, यज्ञ, दीन-दुःखियोंकी सेवा आदि। देवताओंका मन्दिरोंमें दर्शन करना चाहिये, उपवास करना चाहिये, व्रत करना चाहिये। ये सभी उत्तम-उत्तम कार्य हैं, यम-नियमोंका पालन करना चाहिये।

यम पाँच प्रकारके होते हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. परिग्रहका त्याग। अहिंसाका मतलब यह है कि किंचिन्मात्र भी कभी किसीको किसी निमित्तसे कष्ट नहीं पहुँचाना। किसीकी भी आत्माको कभी कष्ट नहीं पहुँचाना। मनसे, वाणीसे, शरीरसे किसी भी प्रकारसे कभी किसी भी जीवको किंचिन्मात्र भी कष्ट नहीं देना चाहिये। इसीका नाम अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य वचन बोलनेका तात्पर्य है। जो बात जितनी सुनी, जितनी देखी या जितनी समझी हो उतनी-की-उतनी ही कह देना एवं वैसी-की-वैसी करना, न कम करना, न अधिक। यह ख्याल रखना चाहिये कि हमारे सत्यपालनमें किसीकी हिंसा न हो जाय। सत्य वचन बोलते हुए उसके हितकी बात और प्रिय बात कहनी चाहिये। कम बोलना चाहिये। अस्तेयका अर्थ है किसी प्रकारकी चोरी न करना। दूसरेका द्रव्य न तो ठगना चाहिये और न नजर छिपाकर लेना चाहिये और न डाँका डालना चाहिये और न जबरदस्ती करनी चाहिये। किसी भी प्रकारसे किसीका धन नहीं लेना चाहिये। जो साधु और ब्राह्मण हैं उनको आवश्यक चीज—अन्न, वस्त्र, पुस्तक यदि कोई दे तो वे ले सकते हैं। वह चोरी नहीं है, चोरी तो वह है जो किसीकी नजर बचाकर ले ले, किसीपर दबाव डालकर ले ले। फुसला कर ले ले, किसी दूसरेके हकका हरण कर ले। ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिये, तीर्थोंमें तो करना ही नहीं चाहिये। सब प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। किसी भी प्रकारसे अपने वीर्यका नुकसान नहीं करना चाहिये। पुरुषोंको स्त्रियोंसे, स्त्रियोंको पुरुषोंसे परहेज करना चाहिये। पुरुषोंको स्त्रियोंका न तो दर्शन करना चाहिये, न स्पर्श। न अश्लील बात करनी चाहिये, न एकान्त-वास और न रमण। किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये। यदि बहुत जरूरी बात हो, भगवद्विषयकी बात हो तो माता तथा बहन समझकर बात की जा सकती है। परिग्रहका त्याग करना चाहिये। 'भविष्यके लिये किसी प्रकारके स्वादका, शौकीनीका, ऐशो-आरामका, भोग-विलासका संग्रह करना ठीक नहीं है।'—ऐसा विचार करके उसका त्याग कर देना चाहिये। केवल अपने शरीरके निर्वाहार्थ भगवान् कहते हैं—

> **निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।**
> **शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥**
>
> (गीता ४। २१)

'जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है सम्पूर्ण भोगोंकी सामग्री जिसने, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्मको करता हुआ पापको नहीं प्राप्त होता है।'

केवल शरीर-निर्वाहार्थ सत्कर्म करते हुए पुरुषको कभी पाप प्राप्त नहीं होता। शरीर-सुखके लिये भोग-दृष्टिका त्याग करना चाहिये। ऐश-आरामकी दृष्टिसे संसारके पदार्थोंका संग्रह करना परिग्रह कहलाता है। परिग्रहका त्याग करना संग्रहका त्याग करना है। इन पाँच प्रकारके यमका अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

नियम पाँच हैं, उन नियमोंको तीर्थोंमें आकर धारण करना चाहिये। पहला है शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता)। बाहरी पवित्रता गङ्गाजल, मिट्टी एवं शौचाचार—सदाचारसे हो जाती है। सदाचारका मतलब यह है कि सभीके साथ उत्तम व्यवहार हो। सदाचार और पवित्र भोजन करना यह बाहरकी पवित्रता है; आहार, व्यवहार और स्नान आदिके द्वारा अपनेको शुद्ध रखना चाहिये। भीतरकी पवित्रता है—काम, क्रोध,

लोभ, राग-द्वेष आदि जो बहुतसे दोष-पाप भीतरमें इकट्ठे हो रहे हैं, उन सबका नाश करना। इसका नाम है शौच। दूसरा है संतोष। इच्छासे या परेच्छा अथवा ईश्वरेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय बस, उसीमें आनन्द माननेको संतोष कहते हैं। **'यदृच्छालाभसंतुष्टो॰'** (४। २२)। लड़का पैदा हुआ तो आनन्द, लड़का मर गया तो आनन्द। लाख रुपये चले गये तो आनन्द, लाख रुपये आ गये तो आनन्द, शरीरमें बीमारी आ गयी तो आनन्द, बीमारी चली गयी तो आनन्द। तात्पर्य यह कि हरि-इच्छासे जो कुछ भी आ करके मिल जाय बस उसीमें आनन्द मानना। इसका नाम है संतोष। तीसरा है तप। इसका मतलब है इन्द्रियोंको वशमें रखना, मन तथा बुद्धिको संयत करना। एकादशी तथा पूर्णिमाका व्रत करना। समय-समयसे उपवास करना भी तपके अन्तर्गत ही माना जाता है। भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी अपने धर्मका त्याग न करना तप है। धर्मके पालन-रूप तपद्वारा मन, इन्द्रियों, वाणी तथा शरीरको शुद्ध बनाना होता है। जैसे सोनेको आगमें तपाया जाता है तो वह सोना शुद्ध हो जाता है, उसका खोट झर जाता है, सोना सोना ही रह जाता है। उसी प्रकार हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ और बुद्धि—ये सब दूषित हो रही हैं। इसलिये धर्म-पालन-तपके द्वारा इन्हें तपाकर सोना-जैसा बनाना है। धर्मके लिये कष्टका सहन करना तप है। गीता, रामायण, महाभारत-जैसे धार्मिक पुस्तकोंका प्रतिदिन घंटा आध घंटा स्वाध्याय करना—अध्ययन करना स्वाध्याय-जप कहा जाता है। ईश्वर-प्रणिधानका भाव है ईश्वरकी भक्ति। ईश्वरको हर समय याद रखना—भगवान्‌के स्वरूपको, भगवान्‌के नामको प्रतिक्षण ध्यानमें रखना। भगवान्‌का ध्यान करते समय भगवान्‌के गुणोंको और चरित्रोंको याद करना चाहिये। जब एकान्त समय मिले तब भगवान्‌के नामका गुप्त रूपसे मानसिक जप करे और उसे प्रकाशित न करे। नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे किया जानेवाला जप बुहत दामी है। इन बताये हुए तपकी बातोंको तीर्थोंमें आकर अवश्य करना चाहिये। पितरोंके उद्धारके लिये प्रत्येक तीर्थोंमें जाकर तर्पण एवं पिण्ड-दान करना चाहिये। बदरिकाश्रममें एक ब्रह्मकपाल तीर्थ है। कहा जाता है कि वहाँ पिण्ड-दान करनेसे पितरोंका उद्धार हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थमें जाकर क्षौर-कर्म करवाना, पितरोंको जल देना, पिण्ड देना बहुत ही उत्तम बात है। अपनेसे बन सके तो प्रत्येक तीर्थमें जाकर यज्ञ करो। चाहे पाँच रुपया ही खर्च करो। दान अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये। जैसे कोई भूखा है तो उसको अन्न दिया जाय। यदि एक दम नंगा हो तो उसको वस्त्र दिया जाय, विद्यार्थियोंको गीता, रामायण आदि पुस्तक दिया जाय। बीमार व्यक्तिको दवा दी जाय। तात्पर्य यह कि जो जिसका पात्र हो उसको वह चीज दी जाय। दान सात्त्विक करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(गीता १७। २०)

'हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

इसलिये 'देना ही कर्तव्य है' ऐसा समझकर दान दिया जाय—उसके बदलेमें किसी प्रकारकी कोई कामना नहीं करे। प्रत्युपकारकी कामना तो करें ही नहीं। जिससे अपना कोई प्रयोजन न हो उसे देश, काल, पात्रके अनुसार निष्कामभावसे दे तथा कर्तव्य समझ कर दे। उत्तम देश, उत्तम काल और उत्तम पात्रको इस प्रकार समझना चाहिये—यदि तीर्थस्थान है तो वह उत्तम देश है और तीर्थस्थानमें भी यदि ग्रहण है, अमावस्या है, व्यतीपात है तो ये उत्तम काल हैं, जिसको दान दिया जाय वह भी दान ग्रहण करनेका पात्र हो। जो जिस वस्तुका पात्र हो उसे वही दिया जाय। यहाँ एक प्रकारसे मैंने देश, काल, पात्रकी व्याख्या बतलायी है। दूसरे प्रकारकी व्याख्या इस प्रकार है—दान उस देशमें दिया जाय, जहाँ देनेवाला कोई नहीं है और वहाँ आवश्यकता है। जैसे बाढ़ आ गयी, भूकम्प आ गया, आग लग गयी और कोई विपत्ति घट गयी, वहाँ देनेवाला कोई नहीं है तो वह देश पात्र है। काल पात्र वह है जैसे किसी समय किसीको किसी वस्तुका अभाव हो गया, कोई चीज पैदा नहीं हुई और प्रजा भूखसे मर रही है तो वह समय एक प्रकारसे दान देनेका समय है। और पात्र वह है जो दुःखी है, भूखा है, अनाथ है, अभ्यागत है, लँगड़ा है, कोढ़ी है, विधवा स्त्रियाँ हैं, कमानेकी शक्ति नहीं है,

रोजगार करनेपर भी खानेभरको नहीं मिलता, उसको दान देना चाहिये, वह दान ग्रहण करनेका पात्र है। यह दूसरे प्रकारकी देश, काल, पात्रकी व्याख्या है।

तीर्थमें आ करके उत्तम-से-उत्तम कार्य करना चाहिये। बड़ोंके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये तथा उनकी सेवा एवं आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि पत्नी पतिको देवता मानकर उसकी पूजा करे, घरभरकी सेवा करे, नमस्कार करे, तो वह केवल पातिव्रतधर्मसे ही अपने पतिके साथ उत्तम गतिको प्राप्त होती है। ऐसे ही जो लड़के हैं वे माता-पिताको नारायणका स्वरूप समझकर उनकी सेवा करें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनके चरणोंमें नमस्कार करें तो सहजमें ही उनका उद्धार हो जाय। इसी प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति की जाय। अपने गुरुकी, महात्माओंकी तन-मन और वाणीसे सेवा करे। यदि यह सेवा निष्कामभावसे करे तो कैसा भी पापी क्यों न हो उसका शीघ्र ही उद्धार हो जायगा।

यहाँतक मैंने एक बात तो कही यज्ञ, दान आदि कर्मोंकी तथा दूसरी बात कही भगवान्‌की भक्तिकी और तीसरी बात तपस्याकी। तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियोंका जो व्यापार है उसका संयम करना और कर्मोंका त्याग करना अर्थात् इनको अक्रिय बना करके कष्ट सहकर तपस्या करना। इस प्रकार कर्मोंके फलका त्याग तथा शरीरसे खूब कर्म करना कर्मानुष्ठानके ये दो भेद हो गये—निष्कामकर्म और उपासना।

उपासना भक्तिका नाम है। भाव यह कि ईश्वरकी भक्ति करना—ज्ञान और वैराग्यद्वारा भोगोंका त्याग करके परमात्माके स्वरूपका विवेक-बुद्धिसे ज्ञान प्राप्त करना। सभी नियम कल्याण करनेवाले हैं। दानकी अपेक्षा ईश्वरकी भक्ति ज्यादा उत्तम है। मानो एक भाईने दानमें सौ रुपये दिये और इस रुपयेका अन्न मँगा करके साधुओंको दान दे दिया, या वस्त्र मँगाकर दे दिया, जूता मँगाकर दे दिया अथवा बदरिकाश्रम जानेवाले भाइयोंको यह सब मँगाकर दे दिया और दूसरे भाईने सौ रुपयेका सामान मँगाया और उसे साधुओंकी कुटियोंमें जा-जा करके, खोज-खोज करके पात्र देख-देख करके दिया तथा शरीरसे मेहनत किया तो सौ रुपयेसे ज्यादा वह महत्तम है और इससे भी ज्यादा लाभ भगवान्‌की भक्ति करनेवाले या भजन करनेवालेको है। मानो एक आदमीने लाख रुपये दान कर दिये और एक आदमीने एक दिन भगवान्‌के भजन और ध्यानमें मन लगा दिया, एक दिनकी तो बात ही क्या, अगर एक घंटा भी मन लगाकर भजन-ध्यान कर ले तो उसके मुकाबले न हजार रुपया है, न लाख रुपया। कोई भाई आनेवाले भाईके लिये मकान बनवा दे, कमरा बनवा दे, उनके रहनेकी व्यवस्था करवा दे, समझो कि यह जो पुण्य है, धर्म है, लोगोंकी सेवा है, यह भी निष्काम भावसे करनेपर मुक्ति देनेवाली है। किंतु भगवान्‌के भजन-ध्यानके बराबर नहीं है। आप लोगोंसे कहा जाता है कि आपलोग जब यहाँ सत्सङ्गमें आयें तब पैसा अधिक खर्च न करें, क्योंकि जो पैसा अधिक खर्च करता है वह बार-बार सत्सङ्गमें नहीं आ सकता। कारण कि उसके घरवाले कहते हैं कि तीर्थोंमें गया और कितना पैसा खर्च कर आया—पाँच सौ रुपये खर्च कर आया। दूसरी बार जानेको कहा तो कहा कि भाई ! एक बार जानेमें कम-से-कम ५०० रुपयेका खर्च आयेगा। अपना रोजगार भी अच्छा नहीं चलता है, इसलिये घरमें ही बैठकर क्यों न भजन कर लो, तीर्थोंमें जाकर ही भजन क्यों करे, क्या नारायण वहीं बैठा है ? घूमनेके लिये जानेमें १० रु०, आनेमें १० रुपये और ३०रु० दो महीने रहकर खानेमें, इस प्रकार ५० रुपये लगेंगे। वे बोलेंगे ५० रुपये वहाँ लगेंगे तो कोई बात नहीं, यहाँ भी तो ५० रुपये लग जाते हैं। वे कहेंगे अच्छा प्रतिदिन शरीर वृद्ध होता जा रहा है, तीर्थमें जाना ही चाहिये। तीर्थमें जाना अच्छी बात है। फिर बोलेंगे कि हाँ, तुम तो बूढ़े हो गये और तेरे हाथोंसे खर्चा भी कम लगता है, इसलिये तुम सदा तीर्थमें ही रहा करो। तो इतना कहनेका निष्कर्ष यह है कि यहाँ आ करके ज्यादा खर्च नहीं करना चाहिये। यदि फिर अपनेको यहाँ आना है, आनेका मन करे तो अपनी शक्तिके अनुसार खर्च करना चाहिये। शक्तिसे बाहर खर्च नहीं करना चाहिये। मान लो किसी-किसी भाईके सिरपर ऋण है तो सिरके ऊपर ऋण रहते तीर्थ करोगे तो ऋण और बढ़ेगा। दूसरोंके पैसोंसे तीर्थ करना ठीक नहीं है। गम्भीरतासे विचार करके देखो, अपने घर पूँजी तो है नहीं, जितनी पूँजी है उतनी माँगतकी है और उसे खर्च करता है तो दूसरेका पैसा खर्च करता है। ऐसे आदमीको तीर्थ नहीं करना चाहिये। कोई-कोई आदमी तीर्थ करते हैं तो उस तीर्थमें

दूसरेका पैसा ले लेते हैं, उधार लेकर दान करते हैं तो दूसरोंके पैसेसे तीर्थ करना बहुत नीचे दर्जेकी बात है। यदि पूछो कि कोई ब्राह्मण हो, साधु हो और उनके पास पैसा न हो तो उनके लिये भी यह नीचे दर्जेकी बात है क्या ? तो उनके लिये दो बात है—बिना याचनाके यदि कोई दे दे अथवा उनको तीर्थ करवा दे तो उस ब्राह्मणके लिये, साधुके लिये वह अमृतके समान है और यदि वह माँग ले तो वह उसके लिये निन्दनीय है। माँगो सबके लिये, अपने लिये नहीं, परंतु यदि बिना माँगे कोई तीर्थ करवा दे तो वह उसके लिये पाप नहीं है, अमृतके समान है। इसी प्रकारसे वह दान भी अमृतके समान है जो बिना माँगे दे। माँगना वह है जैसे चंदा-चिट्ठा है। जैसे एक आदमीने चंदेमें सौ रुपया माँगा, कहा— तू तो लखपति हो, तुम्हें तो कम-से-कम ५०० रुपये देने चाहिये। उसने कहा—नहीं मेरी तो इतनी इच्छा है। उसने कहा—नहीं मैं भी बनियाका बेटा हूँ, पाँच सौ लेकर जाऊँगा। उसने कहा—नहीं दो सौ रुपये ले जा। आखिरमें तीन सौ रुपयेमें सौदा तय हुआ। तो यह जो दान है एक प्रकारसे तामसी दान है। देना तो पड़ता है, हमलोगोंको भी देना पड़ता है, पर है वह तामसी दान। कहावत है—

'नहीं माँगा तो दूध बरोबर और माँग लिया तो पाणी।
खेंचा-तानी रक्त बरोबर ये संतोंकी वाणी॥'

तो ऐसा लेना-देना लेनेवालेके लिये भी विषके समान है और देनेवालेके लिये भी विषके समान है। दोनोंके लिये निन्दनीय है। जैसे तीर्थमें आकर यदि कोई पुण्य करे तो उसका अनन्त होता है, उसी प्रकार यदि तीर्थोंमें आकर कोई पाप करे तो वह भी अनन्त हो जाता है। तीर्थोंमें ऐसी शक्ति है कि वह सबको अनन्त कर दे। कोई भाई तीर्थमें आकर यदि चोरी करे, व्यभिचार करे, झूठ बोले, मद्य पिये, जूआ खेले तो वह भी उसका अनन्त हो जाता है। जैसे गङ्गाका ध्यान करने, उसमें स्नान करने, उसका पान करने, दर्शन करनेसे सब पाप कट जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गामें कोई पेशाब करे, टट्टी करे तो वह घोर नरकमें जाता है। किसी अन्य स्थानपर टट्टी जाय तो इतना पाप नहीं है, परंतु गङ्गामें कोई टट्टी जाय तो बहुत पापकी बात है। यहाँ आकर गङ्गासे बहुत दूर जा करके टट्टी-पेशाब करना चाहिये। गङ्गाके किनारे न दातुन करना चाहिये, न खखार फेंकना चाहिये और न धोती धोनी चाहिये और न फटकारनी चाहिये। धोतीका पानी किनारे आकर निचोड़ना चाहिये, पर यह ध्यान रखना चाहिये कि वह निचोड़ा पानी गङ्गामें न चला जाय।

गङ्गाजीमें स्नान करनेमें पहले गङ्गाजीका ध्यान करना चाहिये, दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये, फिर पुष्प चढ़ाकर गङ्गाजीका पूजन करके स्नान करना चाहिये। क्योंकि गङ्गामें स्नान करनेका बहुत माहात्म्य है। इसी प्रकार गङ्गाजीमें टट्टी-पेशाब जाना बहुत बड़ा पाप है। जैसे किसी महात्मा पुरुषकी सेवा करना बहुत बड़ा पुण्य है पर उनका तिरस्कार करना बहुत बड़ा पाप है। जैसे तुलसीमें जल डालना बहुत बड़ा पुण्य है,पर उसमें पेशाब करना बहुत बड़ा पाप है। हरेक तरहसे आपको समझ लेना चाहिये कि तीर्थोंमें आ करके किसी भी प्रकारका पाप नहीं करना चाहिये। यदि पुण्य न हो तो पाप तो नहीं ही करे। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवान् ! यदि हमसे कोई पुण्य न हो तो पाप भी न हो। आप मेरी रक्षा करें। इसी तरहसे तीर्थोंमें जाकर रहना चाहिये। इससे शीघ्र ही पराभक्ति-प्राप्तिपूर्वक भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है और जगदीश्वर भगवान्के प्राप्त हो जाने तथा प्रसन्न हो जानेपर कुछ भी अलभ्य या प्राप्य शेष नहीं रह जाता अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो जाता है। (समाप्त)

यह परमात्मा न चक्षुका विषय है न वाणीका है, न इन्द्रियोंका है और न कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप या अग्निहोत्रादि कर्मोंका ही विषय है। जिसका अन्तःकरण ब्रह्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित है, वही इस अविभक्त परमात्माका ध्यान करता हुआ उसे देखता है।—उपनिषद्

जिसने इन्द्रियोंके वशमें रहकर केवल कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही अपना जीवन बिता दिया है, वह अन्तमें प्राप्त होनेवाली महान् पीड़ासे नष्टबुद्धि होकर मृत्युको प्राप्त होता है।—श्रीमद्भागवत

साग्नित्रेता गरीयसी

(श्रीबनवारीजी गुप्त 'शास्त्री')

प्राचीन यज्ञिय परम्परामें श्रौत और स्मार्त—इन द्विविध यज्ञाग्नियोंका वर्णन आता है। इनमें श्रौत अग्नियाँ—'गार्हपत्य', दाक्षिणात्य, 'आहवनीय'—इन तीन नामोंसे प्रसिद्ध हैं, इन्हें 'वैतान' नामसे भी कहा जाता है। स्मार्त अग्नियाँ 'सभ्य', 'आवसथ्य' दो नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्मार्त अग्नियोंका नामान्तर 'गृह्याग्नि' है। दर्श, पौर्णमास, इष्टि आदि अनेक शास्त्रीय 'श्रौत याग' उपर्युक्त तीन अग्नियोंमें ही सम्पन्न होते हैं। अन्य नित्य-नैमित्तिक, पाक-यज्ञादिक 'गृह्याग्नियों' में सम्पन्न होते हैं। उक्त यज्ञिय अग्नियोंका विधिवत् आधान, धारण, पालन एवं रक्षण करनेवाले गृहस्थको 'आहिताग्नि' नामसे कहा जाता है। इन पाँचों अग्नियोंकी वेदियाँ पृथक्-पृथक् आकार-प्रकारकी होती हैं।

मनुने माताको ही तत्त्वतः दक्षिणाग्नि, पिताको गार्हपत्याग्नि और गुरुको वास्तविक आहवनीय अग्नि माना है और इन्हें ही परम उपास्य तथा परम कल्याणकारी इन तीन अग्नियोंका मूल रूप बताया है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥

(मनु० २। २३१)

माता, पिता और गुरु—ये तीनों उपर्युक्त तीन अग्नियोंसे भी श्रेष्ठ माने गये हैं। अर्थात् इनके-जैसा विश्वका और कोई उपकार करनेवाला नहीं है।

कोई भी ब्रह्मचर्य या गृहस्थाश्रममें रहनेवाला धार्मिक व्यक्ति जो इन माता, पिता तथा गुरु—इन तीन अग्नियोंकी सेवा तथा उनके आज्ञापालनमें प्रमाद नहीं करता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेता है और सूर्यके समान देदीप्यमान होता हुआ सर्वत्र यश आदिसे प्रकाशित होने लगता है।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २३२)

इतना ही नहीं, बल्कि ये तीनों पिता, माता और गुरु ही गृहस्थ तथा ब्रह्मचारियोंके लिये तीनों लोक, तीनों आश्रम और तीनों वेद (ऋग्, यजु, साम) हैं और ये तीनों ही त्रि-अग्निसे परिपूर्ण परम श्रेष्ठ भारतीय संस्कृतिके सर्वस्व हैं।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(मनु० २। २३०)

पिता, माता, आचार्यकी सेवा ही परम तप है। इन तीनोंकी सेवा-शुश्रूषा, पूजा ही परम तप—सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इनकी अनुमतिके बिना पुत्र और शिष्यको अन्य धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। इन त्रि-देवोंकी सेवा ही परम तप और परम धर्म है।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २। २२९)

सभी कल्याणकामियोंको पिता, माता और आचार्यकी आज्ञाका पालन तन-मन-वचन-कर्मसे करना चाहिये और सदैव उनको संतुष्ट रखना चाहिये तथा उनके साथ सदा प्रिय, मधुर, शिष्ट आचरण और व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि उनकी संतुष्टि और तृप्तिसे ही समस्त तप एवं धर्म सिद्ध हो जाते हैं।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥

(मनु० २। २२८)

तीनों लोकोंका सुख और त्रिविध दुःखोंसे शान्ति-प्राप्तिके साधन भी त्रि-देव ही हैं। पुत्र एवं शिष्य माताकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा एवं पूजाद्वारा भू-लोक, पिताकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा, पूजाद्वारा द्युलोक (अन्तरिक्ष) तथा आचार्यकी सेवा, भक्ति, शुश्रूषा, पूजाद्वारा ब्रह्मलोकको प्राप्त कर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होकर परम सिद्धि, परम शान्ति-पदको निश्चय प्राप्त कर लेते हैं।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २। २३३)

सृष्टिके प्रारम्भमें जैसे ब्रह्माने ऋषि-मुनियोंको वेद, वेदाङ्ग

आदि शास्त्रोंकी शिक्षा दी थी, वैसे ही आचार्य भी शिष्यको वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, सदाचार आदिकी शिक्षा देते हैं, अतः आचार्य परमात्म-रूप ब्रह्म हैं। जैसे परमात्मा समस्त सृष्टिके जन्मदाता, पालन-पोषण-संरक्षण-कर्ता हैं, वैसे ही पिता भी पुत्रका जनक-पालक, पोषक और संरक्षक है। अतः हिरण्यगर्भ प्रजापति है। जैसे पृथिवी सम्पूर्ण भू और प्राणि-जगत्को अपने क्रोडमें धारण करती है, उसी प्रकार माता भी अपनी संततिको गर्भमें धारण कर, अनेक कष्ट सहन करती हुई लालन-पालन करती है, अतः माता संतति-धारणकर्त्री पृथ्वी है। उक्त त्रिमूर्तियाँ लोकोत्तर—त्रिदेव महान् विभूतियाँ हैं। सहोदर भाई साक्षात् अपना ही प्रतिबिम्ब है, वह सहोदर भाईके प्रत्येक परिस्थिति—सुख-दुःखमें सर्वस्व त्यागकर साथ रहता है और उसकी रक्षा करता है।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥

(मनु० २। २२६)

माता और पिता पुत्रको उत्पन्न कर सुयोग्य बनाते हैं, अतः सदा पूज्य हैं। आचार्य वेद, वेदाङ्ग, सत्-शास्त्र, ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षा देकर सुयोग्य बनाते हैं, अतः आचार्य (गुरु) सर्वश्रेष्ठ हैं। माता, पिता और आचार्य (गुरु) के ऋणसे पुत्र, संतान, शिष्य सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवाद्वारा उऋण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जन्मसे लेकर जीवनपर्यन्त इनके पालन-पोषण-संरक्षण-शिक्षणका भार उन्हींपर है। मनु भगवान्ने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

समस्त धर्म—जप, तप, दान, पुण्य, यज्ञ आदि उसीके सुफल हैं, जिस पुत्र—संतान और शिष्यने इन त्रिदेवोंकी भक्ति, सेवा, शुश्रूषा और पूजा कर ली, आदर-सत्कार और शिष्टाचार-सद्व्यवहार कर लिया, उसीका जन्म सार्थक है। जिसने इनका निरादर-तिरस्कार किया, उसकी समस्त क्रियाएँ—जप, तप, दान, धर्म, पुण्य आदि सभी व्यर्थ और निष्फल हैं—

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

'आत्मा वै जायते पुत्रः' स्वयं माता-पिताकी आत्मा ही पुत्ररूपमें जन्म लेती है, अतः उनकी आत्माको संतृप्त और संतुष्ट करना पुत्रका परम कर्तव्य है। जबतक ये त्रिदेव जीवित हैं, तबतक पुत्र—संतान और शिष्यको स्वेच्छासे अन्य धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये, किंतु नित्यप्रति प्रिय-हित-साधनद्वारा उनकी सेवा-शुश्रूषा और पूजा करना ही परम कर्तव्य और साधन है।

इतिहास-पुराणोंमें आरुणि, उपमन्यु, वेद, उत्तङ्क, एकलव्य, जामदग्न्य राम (परशुराम), दाशरथि राम, श्रवणकुमार, भीष्म एवं पिप्पलाद आदि मातृ-पितृभक्त और गुरुकी उपासना करनेवाले व्यक्तियोंके ऐसे अद्भुत चरित्र वर्णित हुए हैं जो उनके द्वारा स्पष्ट आज्ञा दिये जानेपर नहीं, अपितु अपनी प्रज्ञाद्वारा उनके सूक्ष्मभावोंको परिलक्षितकर तन-मनसे उनकी सेवा करते तथा उनके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेको उद्यत रहते थे। भगवान् श्रीरामने तो अपनी माता कौसल्या तथा अपने पिता महाराज दशरथके प्राणप्रिय होनेपर तथा उनकी तनिक भी इच्छा न रहनेपर भी अपनी विमाता कैकेयीकी केवल मानसिक इच्छाको जानकर तृणके समान राज्य, कोष, इष्ट-मित्र सबका परित्याग कर दिया और चौदह वर्षके दुस्सह वनवासका कष्ट स्वीकार किया। इस प्रकार इन्होंने मनुद्वारा निर्दिष्ट फल अर्थात् यशके द्वारा तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त की और सूर्यके समान सर्वत्र प्रकाशित हुए। वास्तवमें इन्हीं सब आचार-विचारोंके कारण भारत जगद्गुरुके उच्च पदपर स्थित हुआ और प्रायः मन्वादिकी अन्य भी सभी बातें अनन्तकालतक अध्यात्मतत्त्वकी आधारशिलापर स्थित होनेके कारण प्रभावपूर्ण चमत्कार प्रकट करती हैं। ईश्वरीय ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण सर्वत्र उनका सारा कथन दिव्य एवं परम कल्याणप्रद है। इसलिये वेदोंने भी—**'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'** अर्थात् मनुके समस्त उपदेश ओषधियोंके भी परम औषध होनेसे तीनों लोकोंके लिये कल्याणकर हैं—यह कहकर अपनी अमिट छाप लगा दी है।

इसलिये समस्त मानव-जगत्के परम पिता भगवान् मनुके समस्त उपदेशोंका पालन करते हुए अपनी माता, पिता एवं गुरुजनोंके प्रति विशेष श्रद्धा रखते हुए भगवान् रामकी तरह उनके मनोभावोंको समझते हुए उनकी सच्ची सेवाद्वारा अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

अल्पमें सुख नहीं है

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'

(छा० ७।२३।१)

श्रुति कहती है 'अल्पमें सुख नहीं है, जो भूमा—महान् निरतिशय है, वही सुख है।' इसीलिये जीव चिरकालसे सुखकी खोजमें भटकता है, परंतु कहीं तृप्त नहीं होता। हो भी कैसे? उसने अभीतक अल्पमें ही चक्कर काटे हैं, पूर्णके दरवाजेपर पहुँचे तब न उसको सुखकी झाँकी नसीब हो, अबतक तो उसने जिस-जिस चीजको सुखका साधन समझकर अपनाया, वह अन्तमें दुःखदायी ही साबित हुई, इसीसे यह अशान्त हुआ जहाँ-तहाँ कराहता, कलपता, बिलखता दौड़ रहा है और बार-बार ठोकरें खा-खाकर गिरता और क्लेश सहता है।

यह बात नहीं कि जीव पूर्णके दरवाजेतक पहुँचनेका अधिकारी नहीं है। वह सच्चा अधिकारी है, परंतु उसने भ्रमसे पूर्णको भूलकर—अपूर्णको और अनित्यको पूर्ण और नित्य तथा असत् और दुःखमयको ही सत् और सुखरूप मान लिया है, इसीसे वह इन्हींमें प्रीतिकर इन्हींमें रमकर बार-बार मृत्युकी क्लेशकारिणी कराल मूर्तिको देख-देखकर काँपता और रोता है, तो भी इन्हें छोड़ना नहीं चाहता, यही उसका अज्ञान है, यही अविद्याका जाल है, जिसमें फँसकर उसने अपने स्वरूप और अधिकारको भुला ही दिया है।

इसी अविद्याके जालको काटनेकी आवश्यकता है। वेद-शास्त्र, संत-महात्मा इसीके लिये कठोर साधन करना बतलाते हैं, इसीके लिये साधक शास्त्र और संतोंका सङ्ग किया करते हैं। पर शास्त्र और संतोंके सङ्गको तभी सफल हुआ समझना चाहिये, जब यह अविद्याका जाल कट जाय, अज्ञानका अन्धकार नष्ट हो जाय। यह अज्ञान ही हमारा परम शत्रु है, जिसने हमें एक होते हुए भी अपने स्वरूप परमात्मासे विलग कर रखा है, मिथ्यामें सत्ता और मोह उत्पन्न कराके हमें संसृतिके प्रवाहमें डाल रखा है। जैसे अन्धकारका नाश प्रकाशसे होता है, अमावस्याकी घोर काली निशा अरुणोदयकी लालिमाको देखते ही सकुचाकर दुबक जाती है, अपनेको छिपाने लगती है और सूर्यका प्रकाश होते-होते सर्वथा नष्ट ही हो जाती है, वैसे ही यह अज्ञान-तम भी ज्ञानकी विमल और प्रखर ज्योतिसे ही नष्ट होता है। ज्ञानके बिना अज्ञानका नाश कभी सम्भव नहीं, इसीलिये मनुष्य-जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कर्तव्य ज्ञानको—तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त करना है, जिसके मिलते ही सारे दुःख-क्लेश सदाके लिये शान्त हो जाते हैं। यह ज्ञान ही भगवत्कृपासे प्रेमके रूपमें परिणत होकर बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, तनमें-मनमें, वाणीमें, बुद्धिमें, बैठनेमें-चलनेमें, सोनेमें-जागनेमें, दृष्टिमें-अदृष्टिमें केवल एक दिव्य सत्य चेतन आनन्द भर देता है। फिर सब ओर, सर्वदा सबमें एक दिव्य परमात्म-सत्ता ही छा जाती है, छायी तो वह अब भी है, परंतु अब अज्ञानावृत जीव उसे प्रत्यक्ष नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करता, पर जब ज्ञानालोकसे अज्ञानान्धकार मिट जाता है, जब जीव और शिवकी एकता हो जाती है, तब फिर जो कुछ रह जाता है, बस वही पूर्ण **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** है। वह दिशा, काल, मान आदिमें सर्वत्र व्याप्त है। यही नहीं, दिशा, काल, मान आदि सब उसीमें कल्पित हैं, वह एक है, अनुपम है, अपरिमेय है, अनादि है, आदि है, अनन्त है, नित्य है, सत्य है, ज्ञान है, प्रेम है, परमानन्द है, परम रसरूप है, अटल है, असीम है, अज है, अकल है, अगम्य है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है। इसीलिये श्रुतियोंने **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** आदि कहकर भी उसे 'नेति नेति' कहा है, क्योंकि किसी भी शब्दसे, किसी भी बुद्धि-वृत्तिसे उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता, उसको बतलानेके लिये जितने नाम, भाव और उदाहरण हैं, वे सभी अपूर्ण हैं और वस्तुतः उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकते, परंतु उसका कुछ बाहरी भाव, उसकी छाया समझमें आ जाय, इसीलिये **'शाखाचन्द्र-न्याय'** से इन शब्दोंकी कल्पना की गयी है। शब्द भी तो वही हैं, आरम्भमें वह शब्द ही बनकर सृष्टिका सूत्रपात करता है। इसलिये शब्दमेंसे होकर ही हम उसके स्वरूपतक पहुँच सकते हैं, इसीसे 'शब्द-ब्रह्म' की इतनी महिमा है।

उस चरम स्थितिकी प्राप्ति जिस तत्त्वज्ञानसे होती है, जो इस चरम स्थितिका पर्याय ही है, वह हमें कैसे मिल सकता

है ? इसके लिये अल्पसे वृत्ति हटाकर उसको अनन्त और असीममें लगाना होगा—मनमें महदाकाङ्क्षा उत्पन्न करनी पड़ेगी, यह महदाकाङ्क्षा ही वेदान्तकी 'मुमुक्षुता' है, बिना अनन्य मुमुक्षुत्वके मुक्ति नहीं मिलती, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

जबतक हम प्राणाधार मनमोहनको सर्वोपरि सुख, प्रेम और कल्याणका अथाह असीम समुद्र मानकर उसको प्राप्त करनेकी एकमात्र इच्छापर लोक-परलोककी सारी सुखेच्छाओंको न्योछावर नहीं कर सकते, जबतक हम उस प्यारे-दुलारे साँवरेके प्यारे अरुणारे कदमोंपर इस लोक और परलोकका सारा सुख और ऐश्वर्य लुटा नहीं देते, जबतक हम उस प्राण-प्रियतमकी चरण-धूलि-लाभ करनेके लिये सबका मोह छोड़कर विरहकातर प्राणोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए यमुना-कूलमें कदम्ब-वृक्षकी ओर पागल होकर नहीं दौड़ते, जबतक हमारे मनकी एक-एक वृत्ति—हमारी चित्त-सरिताकी एक-एक तरङ्ग उछलती-कूदती सर्वप्रकारके बन्धन-प्रतिबन्धनोंके पहाड़ों और पर्वतोंको पददलित करती, तोड़ती और लाँघती हुई उस असीम आनन्द-समुद्र श्याम-सुन्दरमें मिलकर एकत्वको प्राप्त करनेके लिये एकतारसे, एक चालसे, अनन्यभावसे और तीव्र गतिसे बहना शुरू नहीं करती, तबतक हमें वह मोहन कैसे मिल सकता है ? तबतक कैसे हम दावेके साथ कह सकते हैं कि हम पुकारते हैं पर वह बोलता नहीं ? हम बुलाते हैं पर वह आता नहीं ? हम चाहते हैं पर वह चाहता नहीं ? जिस दिन उसकी प्यारी चाह जगत्की और सारी चाहोंको खा बैठेगी, जिस दिन हमारे प्राण व्याकुलतासे उसे पुकार उठेंगे—उस दिन हमसे बोले बिना, मिले बिना, हमें हृदयसे लगाये बिना उससे नहीं रहा जायगा। सच बात तो यह है कि वह तो हमसे मिलना चाहता है परंतु हमें उसकी परवा नहीं है। उस प्यारे दिलदार मोहनकी माधुरी छबिके सामने जगत्की कौन-सी चीज है जो हमें अभिसारसे अटकाकर रख सकती है, उस रूपकी छटाका भान हो जानेपर तो तन-मन-धन और लोक-परलोक सब आप ही उसपर लुट पड़ता है, ऐसी कोई चीज ही नहीं रह जाती जो उसके चरण-रज-कणकी कीमतमें न दी जा सके, सब कुछ देकर भी वह मिल जाय तो भी उसे सस्तेमें ही मिला समझो—प्रियतमके दीदार-दीवाने कबीरजी पुकारते हैं—

इस तनका दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

फिर उसे दूसरी चीज भाती ही नहीं, उसके मन और कोई बात समाती ही नहीं, उसके नेत्रोंमें और कोई छबि आती ही नहीं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥

दूसरा कहता है—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें॥

संत श्रीदादूजी महाराज ऐसे विरहीकी दशाका वर्णन करते हैं—

जिस घट इश्क अलाहका तिस घट लोहि न माँस।
दादू जियमें जक नहीं, सिसकै साँसों-साँस॥
दादू इश्क अलाहका जे प्रगटै मन आय।
तो तन-मन दिल अरवाहका सब परदा जलि जाय॥
जहँ विरहा तहँ और क्या जप-तप साधन योग।
दादू विरहा ले रहै, छाँड़ि सकल रस-भोग॥
दादू तड़फै पीड़ सों विरही जन तेरा।
सिसकै साँई कारणै मिलु साहेब मेरा॥
जिस घट विरहा रामका उस नींद न आवै।
दादू तड़फै विरहनी, उस पीड़ जगावै॥
विरह-वियोग न सहि सकौं मोपैं सह्यो न जाय।
कोइ कहौ मेरे पीवकौं दरस दिखावै आय॥
विरह-वियोग न सहि सकौं, निसदिन सालै मोहिं।
कोई कहौ मेरे पीवकौं कब मुख देखौं तोहिं॥
विरह-वियोग न सहि सकौं तन-मन धरै न धीर।
कोई कहौ मेरे पीकौं मेटै मेरी पीर॥

इस विरहकी दशामें जब प्राण-प्रिय तान-तानकर हृदयमें बाण मारता है, तब तो कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अन्तमें होता यह है कि बाण मारनेवाला ही रह जाता है, जिसके बाण लगता है, उसकी अलग हस्ती ही मिट जाती है—इसी दृश्यकी चाहना करते हुए महात्मा दादू पुकारते हैं—

दादू मारै प्रेम सौं बेधै साध सुजाण।

मारणहारे कौं मिलै, दादू बिरही-बाण ॥
मारणहारा रहि गया, जेहि लागे सो नाहिं।
कबहूँ सो दिन होयगो, यह मेरे मन माहिं ॥

विरह-बाण लगनेपर 'वह दिन' आते देर नहीं लगती, जब भक्त उस प्राणाधार विश्वाधार विश्वात्मा मुरलीमनोहरको जानकर, देखकर और उसके हृदयमें छिपकर कृतार्थ हो जाता है। बस, यह विरह-ताप—यह अनन्य प्रेम ही उस पूर्ण प्रियतमके मिलनेका सर्वोत्तम साधन है—स्वयं श्यामसुन्दर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११।५४)

'हे परम तपस्वी अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष दर्शन दे सकता हूँ और भक्तका मुझमें प्रवेश हो सकता है।'

बस, यह प्रभु-मिलन ही पूर्णकी प्राप्ति है, यही सुखकी पराकाष्ठा है। अल्पको छोड़कर इसी महान्—पूर्णके लिये, पूर्ण प्रयत्न करना मनुष्यका परम धर्म है।

गीतावलीमें विभीषण-शरणागति-प्रसंग

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी ओझा)

भगवान् श्रीरामकी अभयप्रदायिनी भक्तवत्सलता असीम और अनन्त है। उनकी यह अहैतुकी कृपा और करुणा वैसे तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके असंख्य जीवोंके लिये समान-रूपसे प्रवाहित होती रहती है, पर जो अनन्य-भावसे उनके ही हो चुके हैं, उनके प्रति इस कृपा और करुणाके तरङ्गायित वेगकी कल्पना कोई भी नहीं कर सकता। उनके लिये तो **'धैर्येण हिमवानिव'** और ***'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा'***– जैसे धीरोदात्त नायक राम सहज ही अधीर हो उठते हैं और उनकी यह अधीरता ही अनन्य-शरणापन्न भावुक जनोंकी थाती है। यहींपर तो उनके ऐश्वर्यका अनन्त आकाश उनके माधुर्यकी एक बूँदपर न्योछावर हो जाता है।

शरणागतिके इस गूढ़ रहस्यकी चर्चाका सूत्रपात तो वैदिक साहित्यसे ही हो जाता है, परंतु रामकाव्य-परम्परामें इसकी सर्वप्रथम प्रामाणिक घोषणा आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अन्तर्गत विभीषण-शरणागति-प्रसंगमें स्वयं राघवेन्द्रके मुखारविन्दसे होती है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० युद्ध० १८।३३)

अर्थात् एक बार भी शरणापन्न होकर 'मैं तुम्हारा हूँ'— इस प्रकार जो रक्षाकी प्रार्थना कर लेता है, उसे मैं सर्व प्राणियोंसे अभय-प्रदान कर देता हूँ, यह मेरा सदाके लिये व्रत है।'

शरणागतिके इस भगवद्वाक्यको समग्र आदिकाव्यकी प्राणशक्तिके रूपमें ग्रहण करके ही वाल्मीकीय रामायणको 'प्रपत्तिका वेद' कहा जाता है। इस सूत्रवाक्यका परवर्ती साहित्यमें अनेक रूपोंमें अनेक अवसरोंपर पात्र, देश और कालके अनुरूप विकास-विस्तार होता रहा। श्रीमद्भगवद्गीताके **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'** तथा **'मामेकं शरणं व्रज'**– जैसे भगवद्वाक्योंमें भी यह गूढ़ रहस्यमय संदेश गूँजता रहा।

भगवच्छरणागतिकी अनेक मार्मिक घटनाओं और अनुभूतियोंसे कवियों, संतों एवं महाकवियोंकी वाणी प्रत्येक देश-कालमें समृद्ध होती रही है। वस्तुतः हमारे जीवन और मरणका प्रत्येक क्षण उन्हीं अशरणशरणके स्निग्ध अमृतसे सरस होता रहता है, पर इनमें कुछ प्रसंगोंका अपना विशिष्ट इतिहास बन गया है। इसमें भी विभीषण-शरणागतिका प्रसंग सर्वाधिक मर्मस्पर्शी है। गोस्वामीजीके काव्यमें यह प्रसंग अनेक भावुक सहृदयोंका सर्वस्व रहा है। इस बहुचर्चित प्रसंगकी रसात्मकता आर्त-प्रपन्न-भक्त-हृदयकी भावना और प्रपन्नार्तिहर प्रभुके हृदयकी अनुकम्पाके अनेक मनोवैज्ञानिक स्तरोंका उद्घाटन करती है।

शरणागतिका मूल रहस्य है भगवान्‌के प्रति निश्छल-भावसे अपनी समग्र विवशताओं और दुर्बलताओंके साथ आत्मदान। अपनी अपूर्णता और प्रभुकी असीम पूर्णता, अपनी लघुता और प्रभुकी विराट्‌ताका अनुभव, अणु जीवको विभु परमदेवके प्रति समर्पित हो जानेको प्रेरित करता है। लंकाका

विभीषण रामकथाकी मनोवैज्ञानिक भावभूमिपर चिन्ताग्रस्त शरणापन्न जीवका ही प्रतिनिधि है, जो दुष्ट-संकल्प रावणसे तिरस्कृत होकर सत्य-संकल्प रामकी शरणमें आता है।

गोस्वामीजीकी गीतावलीमें विभीषणकी प्रस्थानकालीन मनःस्थितिके बड़े मार्मिक चित्र अङ्कित हैं। रावणके द्वारा अपमानित होनेपर जब विभीषण अपने सबसे बड़े भाई कुबेरसे परामर्श लेने अलकापुरी जाते हैं तो संयोगसे वहाँ भगवान् शङ्करसे भी उनकी भेंट हो जाती है और वे उन्हें भगवान् रामकी शरणमें जानेका सर्वोत्तम परामर्श देते हैं।

'राघकी सरन जाहि, सुदिनु न हैरै।'

वस्तुतः भगवान्‌की शरणमें जानेके लिये प्रत्येक क्षण मङ्गलमय है। जीव प्रभुकी शरणमें स्थायीरूपसे जानेकी स्थितिमें तभी होता है, जब उसे अन्यत्र कहीं ठौर नहीं रहता है और ठौर हो भी कैसे सकता है, क्योंकि जहाजके पक्षीकी भाँति उसके नित्य-संरक्षक तो प्रभु ही हैं, स्वयं विभीषणके शब्दोंमें—

'नाहिन मोहि और कतहूँ कछु, जैसे काग जहाजके।'

(गीता० ५। २९)

—इस अनुभूतिकी प्रथम अवस्थामें ही प्रभुकी शरणमें जानेके संकल्पमात्रसे ही जीवको एक विचित्र आह्लादकी प्रतीति होने लगती है। विभीषणकी इस प्रकारकी मनःस्थितिकी सुकुमार अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियोंमें देखते ही बनती है—

महाराज रामपहँ जाउँगो।
सुख-स्वारथ परिहरि करिहौं सोइ, ज्यौं साहिबहि सुहाउँगो॥
सरनागत सुनि बेगि बोलि हैं, हौं निपटहि सकुचाउँगो।
राम गरीबनिवाज निवाजिहैं, जानिहैं, ठाकुर-ठाउँगो॥
धरिहैं नाथ हाथ माथे, एहितें केहि लाभ अघाउँगो।
सपनो-सो अपनो न कछू लखि, लघु लालच न लोभाउँगो॥

(गीता० ५। ३०)

प्रभुके अखण्ड वात्सल्यके प्रति अगाध आस्था और अपनी चेतनामें सम्बन्धानुभूतिकी प्रगाढ़ आत्मीयता शरणागति-पथकी ओर अग्रसर होना है।

विभीषणका सचिव भी राघवेन्द्रको उनकी शरणमें आनेका संदेश देता है कि ***'कृपासिंधु! दसकंधबंधु लघु चरन-सरन आयो सही।'*** इसपर भगवान् प्रमुदित मनसे हनुमान्‌का मन टटोलते हैं और विभीषणके सम्बन्धमें अपना अनुमान व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मुझे तो विभीषणका भाव सौहार्दपूर्ण और आत्मीयतासे भरा हुआ शुद्धबुद्धियुक्त प्रतीत होता है—

'सुमति साधु सुचि सुहद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों॥'

(गीता० ५। ३३)

तब हनुमान्‌जी बड़ा चुटीला उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रभो! आपके अद्भुत मनोभावोंको दूसरा कौन समझ सकता है, मैं सचमुच आपकी इन बातोंपर न्योछावर ही हो जाता हूँ—

'हौं बलि जाउँ और को जानै?'

(गीता० ५। ३३)

सचमुच अन्तर्यामी प्रभुके सिवा जीवके स्वभावकी वास्तविक पहचान और किसे हो सकती है। साथ ही हनुमान् प्रभुकी असीम शक्तिमत्ताकी भी चुटकी ले लेते हैं—

तुलसी प्रभु कीबो जो भलो, सोइ बूझि सरासन-बानसों॥

(गीता० ५। ३३)

शक्तिमान् ही तो संरक्षण देनेकी सामर्थ्य रखता है। भगवान् रामको प्रणाम करते हुए विभीषणकी विभोरता प्रभुको भी विभोर कर देती है। वे बाँहें फैलाकर भेंटते हैं—

भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारिकै।

× × ×

जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि-महेस मन मारिकै।
तुलसी तेहि हौं लियो अंक भरि, कहत कछू न सँवारिकै॥

(गीता० ५। ३६)

प्रथम प्रणाममें ही अङ्कमें भरकर भेंटनेवाले श्रीरामके कारुण्य-सिन्धुत्वकी प्रत्येक तरङ्ग शरणापन्न जीवका सहज सुलभ सौभाग्य है। राम-प्रणामकी इस महिमापर गोस्वामीजीका भक्तहृदय विमुग्ध हो उठता है और वे कहते हैं कि गरीब-निवाज श्रीरघुनाथजीने गरीब विभीषणको राजा बना दिया। इससे बड़े-बड़े धनियोंका (अपनेको भक्तशिरोमणि समझनेवालोंका) मान-मर्दन हो गया। भगवान् रामको किया हुआ प्रणाम महामहिमाकी खान है, उससे सब प्रकारके मङ्गलरूप मणियोंका प्रादुर्भाव होता है। आज भी अभिमान

छोड़कर भगवान् श्रीरामकी शरण जानेसे इसी प्रकार भला हो सकता है। यह बात श्रीतुलसीदासजीने शङ्करको साक्षी कर भुजा उठा सौगन्ध खाकर कही है—

रंक-निवाज रंक राजा किए गए गरब गरि गरि गनी।
राम-प्रनाम महामहिमा-खनि, सकल-सुमंगलमनि-जनी॥
होय भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम-सरन परिहरि मनी।
भुजा उठाइ, साखि संकर करि, कसम खाइ तुलसी भनी॥

(गीता० ५। ३९)

गोस्वामीजी सहसा अपनी व्यक्तिगत भाव-दशाकी अतीत और वर्तमान परिस्थितियोंकी तुलना करते हुए आराध्यके प्रति स्निग्ध तन्मयतासे कह उठते हैं—

हुतो ललात कृसगात खात खरि, मोद पाइ कोदो-कनै।
सो तुलसी चातक भयो जाचक राम स्यामसुंदर घनै॥

(गीता० ५। ४०)

एक ही प्रणामसे प्रसन्न हो जानेवाले भगवान् राघवेन्द्रकी शरणमें आनेवाले जीवके लिये चराचर मङ्गलमय हो उठता है—

गये राम सरन सबकौ भलो।
गनी-गरीब, बड़ो-छोटो, बुध-मूढ़, हीनबल-अतिबलो॥
पंगु-अंध, निरगुनी-निसंबल, जो न लहै जाचे जलो।
सो निबह्यो नीके, जो जनमि जग राम-राजमारग चलो॥
नाम-प्रताप-दिवाकर कर खर गरत तुहिन ज्यों कलिमलो।
सुतहित नाम लेत भवनिधि तरि गयो अजामिल सो खलो॥
प्रभुपद प्रेम प्रनाम-कामतरु सद्य बिभीषनको फलो।
तुलसी सुमिरत नाम सबनिको मंगलमय नभ-जल थलो॥

(गीता० ५। ४२)

इस मङ्गलमय स्थितिका सारा श्रेय जीवकी प्रपत्ति-भावनाको ही नहीं वरन् प्रभुके सहज अशरणशरण नित्य-वत्सल-स्वभावको भी है। स्वयं राघवेन्द्रके अमृत वचन हैं—

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति, तुम्हसन कौन दुराउ॥
सब बिधि हीन-दीन, अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाउँ।
आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ॥

× × ×

नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥

(गीता० ५। ४५)

तभी तो कृतार्थ जीव आत्मविभोर हो कह उठता है—

नाहिन भजिबे जोग बियो।
श्रीरघुबीर समान आन को पूरन-कृपा-हियो॥
कहहु, कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो?
कौने गीध अधमको पितु-ज्यों निज कर पिंड दियो?
कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो?
बालित्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो?
भजन-प्रभाउ बिभीषन भाष्यौ, सुनि कपि-कटक जियो।
तुलसिदासको प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥

(गीता० ५। ४६)

अर्थात् रघुनाथजीके सिवा और कोई भजने योग्य नहीं है। भला उनके समान और किसका हृदय कृपासे पूर्ण है? बतलाओ, और किस देवताने शिलाका उद्धार करके केवटको मित्र बनाया है और किसने महापतित गृध्रको पिताके समान अपने हाथोंसे पिण्ड दिया है। ऐसा कौन देवता है जिसने शबरीके फल खाकर जल पिया हो? और बालिके भयरूप समुद्रमें डूबते हुए सुग्रीवको भी किसने बाँह पकड़कर निकाला है? इस प्रकार जब विभीषणने भगवान्‌के भजनका प्रभाव कहा तो सारी वानरसेना सुनकर सजीव हो गयी। वास्तवमें तुलसीदासके प्रभु कोसलपति श्रीराम ही सब प्रकारसे बली (उत्कृष्ट) हैं।

परलोकमें सहायताके लिये माता-पिता, पुत्र-स्त्री और सम्बन्धी कोई नहीं रहते। वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलोंके समान पृथ्वीपर पटककर घर चले आते हैं। एक धर्म ही उसके साथ जाता है।—मनुस्मृति

जो आत्मनिष्ठ हैं तथा जो आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं चाहते, वे विषयी मनुष्योंकी भाँति रमणीय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते और दुःखरूप वस्तुकी प्राप्तिमें उद्विग्न नहीं होते।—योगवासिष्ठ

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक बातपर आप विशेष ध्यान दें और उसको ठीक तरहसे समझ लें। गरमी पड़े तो आपपर गरमीका असर पड़ता है और सरदी पड़े तो सरदीका असर पड़ता है। असर पड़नेपर भी क्या आप यह मानते हो कि मेरेमें गरमी है या मेरेमें सरदी है? मेरेमें सरदी-गरमी नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक सरदी-गरमीका असर पड़ता है। ऐसे ही आपपर राग-द्वेषका आगन्तुक असर पड़ता है; परंतु आप कहते हो कि मेरेमें राग-द्वेष है! यह बहुत बड़ी गलती है। भगवान् साफ कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे तो शीत—अनुकूलता और उष्ण—प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

इस श्लोकमें भी भगवान्ने 'शीत' और 'उष्ण' शब्द दिये हैं। शीतका भी असर पड़ता है और उष्णका भी असर पड़ता है, पर आपमें शीत और उष्णता नहीं है। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों रहनेवाले और नित्य हो—**'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'** (गीता २। २४)। इस बातको आप गहरा उतरकर समझो। यह कोई तमाशा नहीं है। बहुत ही मार्मिक और तत्काल कल्याण करनेवाली बात है।

अगर आपमें राग है तो वह हरदम रहना चाहिये अर्थात् आप रहोगे तो राग रहेगा, आप नहीं रहोगे तो राग नहीं रहेगा। अगर आपमें द्वेष है तो आप रहोगे तो द्वेष रहेगा, आप नहीं रहोगे तो द्वेष नहीं रहेगा। आप तो रहते हो, पर राग-द्वेष आते-जाते हैं, तो फिर ये आपमें कहाँ हैं?

श्रोता—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' भी तो गीता बोल रही है महाराजजी!

स्वामीजी—वह भी हो जायगा। अब विवाह हुआ तो छोरा-छोरी अभी कैसे हो जायँगे? पहले 'विवाह हो गया'—इस बातको मान तो लो, फिर छोरा-छोरी ही नहीं, पोता-पोती भी हो जायँगे! केवल तमाशेकी तरह मान लेनेकी बात मैं नहीं कहता हूँ। मैं जो बात कहता हूँ, उसका आप अनुभव करो। राग-द्वेष हमारेमें हरदम रहते हैं, यह आपने कैसे, किस आधारपर माना? बताओ। मैंने यह बताया कि शीत-उष्णका असर पड़ता है तो आपमें शीत-उष्ण रहते हैं क्या?

श्रोता—रहते तो नहीं हैं, लेकिन असर पड़ता है!

स्वामीजी—ठीक बात है कि असर पड़ता है, पर 'हमारेमें राग-द्वेष हैं' यह बात आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे! बहुत लाभकी बात है। अगर चोर और डाकूको रहनेकी जगह मिल जाय तो क्या वे उसको छोड़ेंगे? ऐसे ही 'हमारेमें राग-द्वेष हैं'—ऐसा मानकर आप राग-द्वेषको रहनेकी जगह दे देते हो तो क्या वे आपको छोड़ेंगे? केवल पोथीकी बात नहीं है, आप सबके अनुभवकी बात है। क्या राग-द्वेष आपके साथ हरदम रहते हैं? बताओ।

श्रोता—नहीं रहते हैं।

स्वामीजी—तो फिर ये हमारेमें हैं—यह आपने किस आधारपर माना?

श्रोता—हमारेमें नहीं हैं, आते-जाते हैं।

स्वामीजी—कृपा करके इतनी बात आप मान लो तो मैं निहाल हो जाऊँ! इतनी बात आप स्वीकार कर लो कि ये आने-जानेवाले हैं। यही तो भगवान् कहते हैं—**'आगमापायिनोऽनित्याः।'** ये अनित्य हैं और आप नित्य हैं—**'नित्यः सर्वगतः।'** अगर ये आपमें हैं तो नित्य रहने चाहिये!

आप अनुकूलता-प्रतिकूलताको जितना अधिक महत्त्व दोगे, उतना ही उनका असर अधिक होगा। जितना कम महत्त्व दोगे, उतना ही असर कम होगा। उनके महत्त्वको तो आप छोड़ते नहीं और जो बात मैं कहता हूँ, उसको मानते नहीं!

श्रोता—आप कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति तत्काल हो सकती है, लेकिन गीताने कहा है—**'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।'**

स्वामीजी—अगर असली भूख लगे तो भोजनमें देरी नहीं लगती। प्यास अगर जोरसे लगे तो पानी पीनेमें देरी नहीं

लगती। ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी असली भूख लगे तो उसमें देरी नहीं लगती। देरी आपकी भूखमें है, भगवत्प्राप्तिमें थोड़े ही है !

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। अनित्य चीजको छोड़नेमें कठिनाई हो रही है। अनित्य चीजको छोड़ना कठिन होनेसे परमात्माकी प्राप्तिको कठिन मान लिया।

श्रोता—राग-द्वेषका आना-जाना बंद हो जाय—इसका भी कोई उपाय है ?

स्वामीजी—यह हो जायगा। पहले विवाह हो जाय, फिर बेटा हो जायगा, पोता हो जायगा, पड़पोता हो जायगा; सब हो जायगा। अगर आप स्वीकार कर लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं तो इतनी भी देरी नहीं लगेगी। कारण कि बेटा-पोता तो पैदा होंगे; उसमें समय लगेगा। परंतु परमात्मा पैदा होनेवाले नहीं हैं, वे तो सदा मौजूद हैं। पैदा होनेवाले तो राग-द्वेष हैं। राग-द्वेषको आदर देनेसे ही परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये कम-से-कम यह बात तो मान लो कि ये हमारेमें नहीं हैं, आगन्तुक हैं।

श्रोता—बात तो ठीक है कि ये आगन्तुक हैं।

स्वामीजी—यों हाँ-में-हाँ नहीं मिलाना है। एकान्तमें बैठकर आप इसका अनुभव करो कि बात ठीक है, ये आते-जाते रहते हैं और मैं निरन्तर रहता हूँ।

श्रोता—ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि ये हमारेसे अलग हैं।

स्वामीजी—इस अनुभवका आदर करो, असरका आदर मत करो अन्नदाता ! इतना कहना मेरा मान लो कि असरको महत्त्व मत दो, प्रत्युत इस बातको महत्त्व दो कि ये मेरेसे अलग हैं।

श्रोता—मार तो पड़ जाती है न महाराजजी ?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि पड़ने दो। बचपनमें पढ़ाई बहुत बुरी लगती थी, पर बैठे-बैठे पढ़ाई हो गयी कि नहीं ? एक दिन वह था, जब पता नहीं लगता था कि दूसरा क्या कह रहा है, पर आज मैं आपको पढ़ानेको तैयार हूँ।

श्रोता—स्वामीजी ! आपने बताया कि पदार्थ तो आने-जानेवाले हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध स्वयंमें है !

स्वामीजी—सम्बन्ध माना है बाबा, है नहीं ! मैंने कभी नहीं कहा कि सम्बन्ध स्वयंमें है। मैंने कहा है कि सम्बन्ध आपने माना है। जो माना है, उसको आप छोड़ो।

श्रोता—इन आने-जानेवाले पदार्थोंसे स्वयंका जोर अधिक होता है क्या ?

स्वामीजी—आने-जानेवाले पदार्थोंका जोर नहीं है, आपकी मान्यताका जोर है। आपने मान लिया तो अब इसको ब्रह्माजी भी नहीं छुड़ा सकते। किसी संतकी, गुरुकी ताकत नहीं कि छुड़ा सके। आपने पकड़ लिया तो वे कैसे छुड़ा देंगे ? आपकी मान्यताको ढीली करनेके लिये कहता हूँ कि ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक नहीं हो; फिर ये आपके साथी कैसे हुए ? इनको आप अपनेमें क्यों मानते हो ? कृपा करके इनको अपनेमें मत मानो। क्या आपको दया नहीं आती ? एक भिक्षुक आपसे बात कह रहा है, उसपर दया तो आनी चाहिये। आप गृहस्थोंसे कोई साधु टुकड़ा माँगता है तो उसको देते हो कि नहीं ? ऐसे ही मेरेको भी टुकड़ा दे दो, इतनी बात मान लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं ! इसमें शङ्का सम्भव ही नहीं है; क्योंकि दो और दो चार ही होते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि आप इस बातके पीछे पड़ जाओ। तत्काल भगवत्प्राप्ति जिनको होती है, हो ही जाती है। आपकी ऐसी इच्छा ही कहाँ है ? इस बातको समझनेके लिये इतना परिश्रम ही कहाँ है ? मेरेको आप क्षमा कर देना, मेरेमें जितनी लगन है, उतनी लगन आपमें नहीं है, जबकि आपमें लगन ज्यादा होनी चाहिये। मैंने कल कहा, आज कहा और फिर कहनेको तैयार हूँ। मेरेसे रातमें पूछो, दिनमें पूछो, सुबहको पूछो, शामको पूछो; रात्रिमें मेरेको नींदसे उठाकर पूछो, मैं नाराज नहीं होऊँगा। मैं तो निहाल हो जाऊँगा। जैसे कोई बड़ा ग्राहक मिलनेसे दुकानदार राजी हो जाता है, उससे मैं कम राजी नहीं होता हूँ ! अतः मेरेपर कृपा करो, स्वयंपर कृपा करो और नहीं समझमें आये तो पूछो।

श्रोता—राग-द्वेषके आनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है !

स्वामीजी—राग-द्वेषका असर पड़नेसे, उसके वशीभूत होनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है तो भले ही हो जाय, पर राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं—इसपर तो कायम रहो। भले ही निषिद्ध क्रिया हो, पर ये अपनेमें कैसे हुए ? अपनेमें हैं ही नहीं।

श्रोता—जबतक क्रिया होगी, तबतक तो दुःखी होते रहेंगे !

स्वामीजी—भले ही दुःखी हो जाओ या सुखी हो जाओ, पर दुःखमें भी आप वही रहते हो, सुखमें भी आप वही रहते

हो। सुख-दुःख तो होते हैं, पर आप रहते हो। साफ और सीधी बात है। यह अन्वेषण है, निर्माण नहीं है। संसारका काम देरीसे होता है, उसमें समय लगता है, पर इसमें समय नहीं लगता। आज मैंने जो बात कही है, उसको समझनेमें क्या वर्ष लगता है? हाँ, आप मान लोगे कि समय लगेगा तो जरूर समय लगेगा; क्योंकि आप और हम भगवान्‌रूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं। अगर आप मान लें कि ये राग-द्वेषादि मेरेमें हैं ही नहीं तो समय लगनेकी क्या बात है? कही और चट मानी! सीधी बात है। सत्संगमें आनेवाले भाई-बहनोंकी कई बातें मैंने सुनी हैं। जो पहले रोते थे, कुछ दिन सत्संगमें आनेके बाद उनका रोना बंद हो गया! तात्पर्य है कि सत्संगकी बातोंमें एक ताकत है। यह कोई तमाशा नहीं है। परंतु आप तो कमर कसकर तैयार हैं कि कुछ भी कहो, हम तो नहीं मानेंगे! अब बताओ, मैं क्या करूँ? आपको नहीं जँचती हो तो शङ्का करो। आप कहते हैं कि हमारेपर असर पड़ जाता है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंका सम्बन्ध होते ही असर पड़ता है। किसीके राग-द्वेष ज्यादा होते हैं, किसीके कम होते हैं। सबके अलग-अलग संस्कार हैं, अलग-अलग अभ्यास हैं। परंतु असर पड़नेपर भी 'राग-द्वेष हमारेमें हैं'—यह आपने किस आधारपर माना? इनको आप अपनेमें मानोगे तो कहनेवाला कितना ही जोर लगा ले, आपमें रत्तीमात्र भी फर्क नहीं पड़ेगा। चोर-डाकू तो जबर्दस्ती करते हैं, उनको आप निमन्त्रण दे दो तो फिर वे सवार हो ही जायँगे! ऐसे ही आपने राग-द्वेषको अपनेमें मान लिया, उनको निमन्त्रण दे दिया तो अब वे जायँगे नहीं।

श्रोता—मृत्युके बाद राग-द्वेषके संस्कार तो रह ही जाते हैं!

स्वामीजी—मृत्यु ही क्या, चौरासी लाख योनियाँ और नरक भोग लो तो भी राग-द्वेष मिटेंगे नहीं; क्योंकि इनको आपने अपनेमें मान लिया, अब आप मिटो तो ये मिटें! आप नित्य परमात्माके अंश हो, अतः आप जिसको पकड़ोगे, वह भी नित्य दीखने लग जायगा! आगमें ठीकरी रख दो, कंकड़ रख दो, लकड़ी रख दो, कोयला रख दो, सब चमकने लगेंगे। ऐसे ही आप जिसको अपनेमें मान लोगे, वह चमकने लग जायगा। राग-द्वेष नित्य नहीं हैं, पर आप नित्य हो; अतः आप राग-द्वेषको अपनेमें मान लोगे तो वे भी नित्य दीखने लग जायँगे।

श्रोता—महाराजजी! लोग कहते हैं कि सत्संगमें आते पचास-साठ वर्ष हो गये, पर राग-द्वेष मिटे नहीं!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि सौ वर्ष हो गये, आपने राग-द्वेषको मिटाया ही नहीं! राग-द्वेषको पकड़कर सौ वर्ष सत्संग कर लो, फिर कहो कि राग-द्वेष तो रहते ही हैं! राग-द्वेषको मिटाओगे तो वे मिटेंगे। क्या बिना मिटाये ही मिट जायँगे? मेरी तो ऐसी धारणा है कि एक दिन भी ठीक तरहसे बात सुने तो उसमें फर्क पड़ जायगा!

श्रोता—फर्क पड़नेसे क्या होगा? सर्वथा मिटने चाहिये।

स्वामीजी—तो जबतक सर्वथा नहीं मिटें, तबतक पिण्ड मत छोड़ो, इनके पीछे पड़ जाओ। अनेक जन्मोंकी पड़ी हुई बातमें एक दिन सुननेसे भी फर्क पड़ता है तो अनेक जन्मोंकी बात सच्ची हुई या एक दिनकी बात सच्ची हुई?

श्रोता—जो मान रखा है, उसको न माननेमें किसीकी कोई जरूरत नहीं है क्या?

स्वामीजी—आपकी ही जरूरत है। आप पकड़े रहोगे तो मैं कह दूँ या ब्रह्माजी कह दें, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। अपनी मानी हुई बातको दूसरा कैसे मिटा सकता है? आपने अपनेको गृहस्थी मान रखा है तो दूसरेके कहनेसे अपनेको गृहस्थी मानना कैसे छोड़ दोगे? मैं अपनेको साधु मानता हूँ, पर कोई उपदेश दे कि तुम साधु नहीं हो तो कैसे मान लूँगा मैं?

श्रोता—अभी जो आपने कहा, उसको माननेमात्रसे काम चल जायगा?

स्वामीजी—माननेके सिवाय और किससे काम चलेगा? यह मेरी स्त्री है—ऐसा माननेके सिवाय और कोई प्रमाण हो तो बताओ। सिर्फ माननेसे बेटा-पोता हो जायगा, सब कुछ हो जायगा।

एक सीखना होता है, एक अनुभव करना होता है। नया काम सीखनेमें देरी लगती है, पर जो पहलेसे ही है, उसका अनुभव करनेमें किस बातकी देरी? जैसा मैं कहता हूँ, उसको आप शङ्कारहित होकर मान लो तो पट दीखने लग जायगा,

अनुभव हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। सेठजीने कहा था कि ज्ञानकी, तत्त्वकी बात कठिन है—यह मेरी समझमें नहीं आया; इसमें कठिनता किस बातकी ? कठिनताकी बात ही नहीं है। परंतु जब लोगोंपर आजमाइश की और देखा कि उनको ज्ञान हुआ नहीं, तब जबर्दस्ती माना कि कठिन है। आपने कठिन मान लिया तो अब आपकी मान्यताको कौन छुड़ा सकता है ? किसकी ताकत है कि छुड़ा दे ?

पंढरपुरमें चातुर्मास हुआ था। उसमें मैंने एक दिन कह दिया कि तत्त्वकी प्राप्ति तो बड़ी सरल बात है। इसको सुनकर कुछ लोग कहने लगे कि तुकारामजी महाराजने ऐसा-ऐसा कहा है, तत्त्वप्राप्तिमें तो कठिनता है। तब मैंने एक बात कही कि मैं मराठी जानता नहीं, महाराष्ट्रके संतोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं; परंतु मेरी एक धारणा है कि ज्ञानेश्वरजी, तुकारामजी आदि संतोंको भगवत्प्राप्ति हुई थी, वे तत्त्वज्ञ पुरुष थे। तत्त्वज्ञ पुरुषके भीतर यह भाव रह सकता ही नहीं कि तत्त्वप्राप्ति कठिन है।

अतः उनकी वाणीमें 'तत्त्वकी प्राप्ति सुगमतासे होती है'—यह बात नहीं आये, ऐसा हो ही नहीं सकता ! उनकी वाणीमें यह बात जरूर आयेगी कि तत्त्वप्राप्ति सुगम है। इतनेमें एक आदमी बोल गया वाणी कि ऐसे सुगम लिखा है उसमें ! लिखे बिना रह सकते नहीं। जो वास्तविक बात है, उसको वे कैसे छोड़ देंगे ? तत्त्वको बनाना थोड़े ही है, वह तो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। फिर उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? राग-द्वेष हमारेमें हैं—यह मान्यता दृढ़ कर ली है, इसीलिये तत्त्वकी प्राप्ति कठिन दीखती है।

जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति

(डॉ॰ श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय)

आजका मानव विभिन्न समस्याओंसे आक्रान्त है। इन समस्याओंकी जटिलताओंसे उलझनेके क्रममें वह अपने आपसे अनायास ही यह प्रश्न कर बैठता है कि जीवनका उद्देश्य क्या है—धन-संचय करना या ख्याति प्राप्त करना या केवल आनन्द उठाना। धन-संचय एवं ख्याति प्राप्त करना तो निश्चितरूपेण जीवनका लक्ष्य हो नहीं सकता; क्योंकि मरणोपरान्त यह यहीं छूट जाता है। सांसारिक समस्त भोग-वस्तुएँ नाशवान्, क्षणिक एवं दुःखमूलक हैं। सच पूछा जाय तो जीवनका उद्देश्य परमानन्दकी प्राप्ति है। इसके लिये जीवको ईश्वर-प्राप्तिकी ओर उन्मुख होना आवश्यक है। इसका सहज साधन है भगवन्नाम-जप।

भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। आस्था एवं विश्वासकी कमीके कारण वे भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होते हों, परंतु उनके भक्तगण प्रभुके दर्शन करते हैं, उनसे बातें करते हैं और परम आनन्दकी प्राप्ति करते हैं। इसमें संदेह नहीं है।

अपने आपका अनन्तके साथ संयोग कराना ही परमानन्द है। आत्मा परमात्माका एक अंश है। जीव जबतक परमात्मासे अलग है, वह बन्धनों एवं सीमाओंसे युक्त नहीं है। जब वह अपने आपको परमात्मामें मिला देता है तो उसका अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि जीव एवं परमात्मामें फिर अन्तर नहीं रह पाता, फलस्वरूप वह भी परमात्माकी भाँति बन्धनों एवं सीमाओंसे मुक्त हो जाता है! ऐसा होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसे एक दृष्टान्तसे समझा जा सकता है। एक जल-बिन्दु असीम सिंधुका अंश है। यह बिन्दु किसी छोटे जलपात्रमें रखा जाय तो इसकी गति उस पात्रतक ही सीमित होगी। यदि एक बड़े जलपात्रमें रखा जाय तो इसकी गति उस बड़े पात्रकी सीमाओंतक होगी। नदीमें मिलनेपर यह स्वच्छन्द विचरण तो करेगा, परंतु नदीके किनारोंतक जानेके बाद उसे वहाँसे भी लौटना होगा। यदि कोई बिन्दु सिन्धुमें विलीन हो जाय तो उसके सारे बन्धन खण्डित हो जाते हैं और वह उस असीम जलराशिमें विलीन हो जाता है। इसी प्रकार प्रभुसे बिछुड़ा हुआ जीव जब परमात्मासे मिल जाता है तो उसमें एवं परमात्मामें कोई अन्तर नहीं रह जाता और वह स्व-स्वरूपावस्थितिको प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि परमात्मा क्या है ? यह अनुभूत है कि दिन-रात, जन्म-मरण एवं मौसम-परिवर्तन आदि नियमित-रूपसे होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि सभी नियमितरूपेण गतिशील हैं। सारे विश्वका संचालन एक असीम शक्तिसे हो रहा है। इसके संचालक परमात्मा हैं। परमात्मा एवं उसकी शक्ति दोनों एक दूसरेसे

पृथक् नहीं हैं। एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। ऐसा विश्वके संचालन-हेतु उसकी शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा भी सर्वत्र अपनी शक्तिके रूपमें व्याप्त है। विश्वका कोई भी भाग उससे अछूता नहीं है।

मानसमें कहा गया है—

जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

(रा० च० मा० ७। ७८। ५—८)

यह सत्य है कि आत्माको सुख-दुःख नहीं व्याप्त होता। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं आनन्दस्वरूप है। यह विचारणीय है कि यदि जीव आत्मवत् ही सभी प्राणियोंको समझे तो यह विचार ईश्वर-प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। ऐसा व्यक्ति यह समझता है कि परमात्मा सबमें व्याप्त है। उसे अपने एवं अन्य जीवोंमें कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। वह यह सोचता है किं उसकी आत्मा एवं अन्य सभी आत्माएँ एक ही परमात्माके अंश हैं। एक परमात्माके अंश होनेके कारण वह सभी जीवोंको भी अपना ही अंश मानता है, या वह स्वयंको ही सबमें व्याप्त मानने लगता है। ऐसे लोग ही महात्मा हैं। उन्हें जीवनका लक्ष्य मिल गया है। अब उनकी कुछ और प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा नहीं होती। ऐसे लोग किसी अन्य जीवके दुःखको अपना ही दुःख समझते हैं।

परमात्माके अस्तित्वका आभास होते ही परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी उत्कण्ठा जाग्रत् होना स्वाभाविक ही है। इसके लिये शास्त्रोंमें निर्दिष्ट बातोंका पालन अत्यावश्यक है। महात्मा श्रीतुलसीकृत श्रीरामचरितमानस सरल एवं सहज ही ग्राह्य ग्रन्थ है, जो सभी शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थोंका सारभूत है। उसमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

(रा० च० मा० ७। १०२[ख])

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

(रा० च० मा० ७। १०३। १—४)

इन सभी तथा अन्य भी वचनोंका यही तात्पर्य है कि कलियुगमें भगवान्के नामका जप ही एक आधार है, जो भवबाधाओंसे मुक्ति दिलाकर भगवत्प्राप्ति भी करा देता है।

यह राम-नाम-जप इतना सुगम तथा सरल साधन है कि इसमें अन्य मन्त्रोंके समान किसी विशेष अनुष्ठानादिकी आवश्यकता भी नहीं होती, साथ ही श्रीरामनामका जप जैसे भी हो प्रत्येक स्थितिमें किया जा सकता है। जिस प्रकार बीजको खेतमें उलटा या सीधा किसी प्रकार बोनेसे पौधे निकलते ही हैं, उसी प्रकार राम-नामका जप प्रत्येक स्थितिमें मङ्गलकारी ही है। मानसमें कहा भी गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(रा० च० मा० १। २८। १)

भावसे नारद, प्रह्लाद, ध्रुव एवं हनुमान् आदि अनेक भक्तोंने भगवान्का नाम जपकर अक्षय लोककी प्राप्ति की थी—

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(रा० च० मा० १। २६। ३—६)

आलस्यसे कुम्भकर्णने राम-नाम जपकर सुगति पायी। राम-रावण-युद्धके बीच जब रावणने कुम्भकर्णको जगाया तो उसने रावणसे कहा—

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

(रा० च० मा० ६। ६३। १-२)

कुम्भकर्णके इस प्रकार समझानेके बाद भी रावणने उसकी एक न सुनी। उसने पुनः कहा—

कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥

× × ×

अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥

(रा० च० मा० ६। ६३। ५, ७-८)

कुभावसे रावणने राम-नाम लेकर सुगति पायी। भगवान् रामका नाम एक बार लेनेसे भी रावणका उद्धार हो गया—

धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥

× × ×

गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥

(रा० च० मा० ६।७१।६,१०३।४)

वास्तवमें राम-नाम हर समय लेते रहना चाहिये। रामनामकी विलक्षण महिमा है, जिस प्रकार अनादि-अनन्तकालसे अन्धकाराच्छन्न भवनके महान्धकारको दीप-ज्योति क्षणभरमें निकाल फेंकती है, ठीक उसी प्रकार रामके नामका एक बार उच्चारण पातक-पुञ्जको अग्निसात् कर देता है। भगवन्नामोच्चारणकी अचिन्त्यशक्तिका शास्त्रोंमें पद-पदपर परिचय प्राप्त होता है। उनके प्रायः सभी नामोंकी अद्भुत महिमा है। गिरते-पड़ते, दौड़ते-भागते, लोभ-लालचमें भी भगवन्नाम अपने गुणका परित्याग न कर जीवका सर्वविध कल्याण करता है और प्राणी तब अपने परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें सफल हो जाता है और उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

लोग चाहे आर्त हों चाहे विषादयुक्त, चाहे हिम्मत हार चुके हों, चाहे भयभीत हों, चाहे घोर व्याधियोंसे घिरे हों, यदि वे 'नारायण' शब्दका संकीर्तनमात्र कर लेते हैं तो समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं—

आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता
घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं
विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥

(श्रीकूरेश स्वामी)
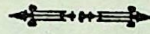
देववाणीकी दिव्यता

(डॉ० श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

महर्षियोंने नामानुगुणयुक्तताके कारण ही सभी शुद्ध संस्कारोंसे समन्वित संस्कृत भाषाको 'देववाणी' कहा है—

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (दण्डी)

इसकी दिव्यता कस्तूरिकामोदकी तरह स्वतः प्रमाणित है। अपनी विपुल वाग्विभूति, अतुल श्री-समृद्धि और असीम ऊर्जाके कारण यदि उसे श्रीमद्भगवद्गीताकी शब्दावली भगवान् श्रीकृष्णकी वाणीमें **'मम तेजोंऽशसम्भवम्'** (१०।४१) कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह दिव्यताका लक्षण भी सुर-भारती निःसंदेह चरितार्थ करती है। वैज्ञानिक दृष्टिसे सूक्ष्म शक्तियाँ ही देवता हैं और देववाणीमें शब्द और अर्थकी शक्तियोंका जो अलौकिक एवं सूक्ष्मतम उत्कर्ष है, वह उसकी दिव्यताको निर्भ्रान्तरूपसे प्रमाणित करता है।

सम्पूर्ण विश्वके भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत भाषाके स्वरूप, उसकी उत्पत्ति एवं विकास आदिके विषयोंपर गम्भीर विवेचन किया है। संस्कार-सम्पन्न वाणी ही संस्कृत है। देववाणीका तात्पर्य इसके वैज्ञानिक संस्कारमें है। अन्तर्हृदयस्थ ज्ञानस्वरूप आत्माके चिद्विवर्तसे समुत्थित होकर परा, पश्यन्ती और मध्यमाको लाँघकर कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, ओष्ठ्य आदि विभागोंमें वर्गीकृत होकर सूक्ष्म एवं विश्वव्याप्त स्थूलभावोंके पूर्ण प्रकाशनकी क्षमता होनेसे ही यह सत्य, दिव्य एवं अलौकिक है। विश्वकी अन्य भाषाएँ अन्यथा लिखित और अन्यथा उच्चरित होती हैं। इसलिये वे म्लेच्छ भाषा कही गयी हैं—यथा—आँग्ल आदि भाषाओंमें 'जी' से 'ग' एवं 'एच्' से हकार आदिकी अभिव्यक्ति होती है। परंतु संस्कृत भाषामें ऐसी स्थिति नहीं है। यह यथालिखित उच्चरित होती है। इस दृष्टिसे भी यह विश्वमें अद्वितीय है।

वस्तुतः अमरवाणी संस्कृतमें ऐसी नौ मुख्य विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य भाषाओंसे उत्कृष्ट सिद्ध करती हैं—

१. विश्वका सर्वाधिक प्राचीन वैदिक संहिता-साहित्य सुर-भारती संस्कृतमें ही उपलब्ध होता है। परंतु वह आदिमता और अपरिष्कारसे परे अपौरुषेय माना जाता है। पाश्चात्त्य विद्वान् मेकडॉनलको उद्धृत करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। अपने 'संस्कृत-साहित्यका इतिहास' ग्रन्थमें पृष्ठ २९ पर वे लिखते हैं—'भारतीय साहित्यके प्रवेश-द्वारपर ही हमारा सामना एक ऐसे गीतिकाव्यसे होता है जो यद्यपि भारत-यूरोपीय-भाषा-परिवारकी किसी भी अन्य भाषाकी मानक साहित्यिक कृतियोंसे बहुत प्राचीन है तथापि विचारके परिष्कार और सौन्दर्य तथा भाषा एवं छन्दके कुशल प्रयोगमें पहलेसे

ही सुविशिष्ट है।'

२. प्राचीनतम और वरिष्ठतम होनेके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य अत्यन्त उत्कृष्ट भी है। सजगतापूर्ण परीक्षणसे भी ऋग्वेदके साहित्यिक महत्त्वमें कोई कमी नहीं आती। उसमें न केवल उत्कृष्ट काव्य ही उपलब्ध होता है, अपितु परवर्ती साहित्यिक प्रवृत्तियोंके मूल उत्सके रूपमें उसका महत्त्व और भी अधिक है। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी अन्वीक्षणशीलता, कौतूहलभरी जिज्ञासा, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदोंके व्यवस्थापन, गम्भीर चिन्तन तथा विज्ञानमें विकसित हुई एवं पुरातन लोकप्रिय साहित्य-परम्पराको उन्होंने अत्यन्त उच्च दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की। फलतः वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भारवि, माघ, बाण, भवभूति, हर्ष आदि संस्कृतके प्रमुख साहित्यकारोंकी अनमोल कृतियोंमें भाव और विचारका, प्रेरणा और कलाका चरमोत्कर्ष देववाणीके प्रत्येक अध्येताके चित्तको चमत्कृत किये बिना नहीं रहता।

३. संस्कृत-साहित्यमें विविधताका ऐसा विलक्षण वैभव है कि अनुशीलनकर्ताओंको उसमें रमणीयताके अभावकी अनुभूति नहीं होती। न केवल खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, महाकाव्य, रूपक, उपरूपक, कथा, आख्यायिका आदि साहित्यकी विविध विधाओंकी ही समृद्धि संस्कृतमें है, अपितु पुराण, इतिहास, वेद-वेदाङ्ग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र (अलंकार), आयुर्वेद, गान्धर्व-वेद, शालिहोत्र, गजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान, विद्या और कलाओंसे सम्बन्धित ग्रन्थ तथा सुभाषित एवं स्तोत्र-ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं सुन्दर हैं।

४. भारतीय सभ्यता और संस्कृति विश्वकी प्राचीनतम सभ्यताओं और संस्कृतियोंमें अप्रतिम है। विश्वके विकासको उसने अत्यधिक प्रभावित किया है। संसारको जो कुछ और जितना उसने दिया है, उसे कम करके नहीं आँका जा सकता और इस महती देनमें देववाणीकी भूमिका एक सशक्त माध्यमके रूपमें रही है।

५. वर्णमाला और लिपिकी दृष्टिसे संस्कृत संसारकी सबसे अधिक वैज्ञानिक, व्यवस्थित, ध्वनिसंगत एवं कर्ण-मधुर भाषा है। विलियम जोन्सने एशियाटिक रिसर्चेज खण्ड १, पृष्ठ ४२२ पर लिखा है—'संस्कृत भाषाकी निर्माण-शैली अत्यन्त अद्भुत है। यह ग्रीकसे अधिक पूर्ण, लैटिनसे अधिक विपुल और दोनोंहीसे कहीं अधिक अत्युत्तम (विशिष्ट) रूपमें परिष्कृत, परिमार्जित एवं प्राञ्जल है।'

वर्ण-विन्यास और पद-विन्यासके कौशलद्वारा भावोंको मूर्त करनेकी कलाका जितना उत्कर्ष संस्कृतमें हुआ है, उतना संसारकी किसी अन्य भाषामें नहीं। मूल संस्कृतभाषाके प्रवाहमें जो आनन्द है, उसका भाव अन्य किसी भी लौकिक भाषाके अनुवादमें आना अशक्य है। प्रो० ए० बी० कीथने अपने 'संस्कृत-साहित्यका इतिहास' ग्रन्थकी भूमिकामें लिखा है—'संसारकी श्रेष्ठ कविताओंका समाहार केवल संस्कृत भाषामें ही है। सभ्य कहलानेवाले पाश्चात्य जगत्में उसकी व्यापक लोकप्रियताकी कदापि अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह आवश्यक रूपसे (अपनी एक ऐसी सारभूत विशेषताके कारण) अननूद्य (अनुवाद न कर सकने योग्य) है।'

६. भाषा-शास्त्र या भाषाविज्ञानकी तो आधार-शिला ही भारत-यूरोपीय-भाषा-परिवारकी कल्पना है और इस कल्पनाका उदय देववाणीके अध्ययनसे ही हुआ है। तुलनात्मक-भाषा-विज्ञानके जन्मके लिये संसार देववाणीका ऋणी रहेगा।

७. विश्व-इतिहासके लिये भी देववाणीकी देन मौलिक और अनुपेक्षणीय है। न केवल ईरान-ईराकमें अपितु मैक्सिकोसे लेकर इण्डोनेशियातक प्राचीन कालमें भारतीय संस्कृतिके व्यापक प्रचार-प्रसारके जो प्रमाण आज मिलते हैं वे किसी-न-किसी रूपमें देववाणीके **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के माध्यमत्वको सिद्ध करते हैं। संस्कृतभाषाने विदेशोंमें भी भारतीय धर्म और संस्कृतिको पहुँचाया था। तिब्बत और चीनमें भी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुवाद प्राप्त होते हैं। हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशोंमें भी संस्कृत भाषाके प्रचलनके प्रमाण प्राप्त होते हैं। संस्कृत सूत्र-ग्रन्थों, पुराणों और शिलालेखोंके अध्ययनके बिना न केवल भारतका अपितु विश्व-इतिहासका लेखन असम्भव है।

८. संस्कृत वाङ्मय भारतकी एक अनमोल सांस्कृतिक सम्पत्ति है, परंतु **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के प्रेरणास्रोतके रूपमें अखिल विश्वके लिये सभी दृष्टियोंसे उसका अत्यन्त महत्त्व है।

९. एक भाषाके रूपमें देववाणीका विश्व-भाषाओंमें अनुपम और उच्चतम स्थान है। जिस भाषामें एक लाख श्लोकोंका महाभारत, मानवताको अनुप्राणित करनेवाला महर्षि वाल्मीकिका अनुपम महाकाव्य रामायण, श्रीमद्भागवत-महापुराण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता तथा रघुवंश, किरातार्जुनीय और शिशुपालवधकी महाकाव्य-त्रयी है, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'उत्तररामचरित' जैसे नाटक हैं और **'मेघे माघे गतं वयः'** जैसी उक्तियोंके प्रेरक एक-एक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका गहराईसे अध्ययन करनेके लिये मनुष्यका पूरा जीवन भी पर्याप्त नहीं, उसकी दिव्यतामें क्या संदेह है ?

देववाणीके वाग्वैभवका परिचय उसके विभिन्न रूपोंमें कालिदासकी व्यञ्जना, भवभूतिकी अभिधा, दण्डीके पदलालित्य, जयदेवके माधुर्य, भारविके अर्थगौरव, बाणके अनुपम गद्य और भर्तृहरिके शतक-त्रयमें मिलता है।

जहाँ दिव्यता होती है वहाँ चमत्कार भी अवश्य होते हैं। देववाणीकी रचनाओंमें चमत्कारोंकी कोई कमी नहीं है। सामान्य पाठकोंको चमत्कृत करनेवाली उक्तियोंमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

१. एक ही वाक्य प्रश्नवाचक भी है और उत्तरवाचक भी है, जैसे—**(प्रश्न) 'कं संजघान कृष्णः' (उत्तर) कंसं जघान कृष्णः'। (प्रश्न) 'कं बलवन्तं न बाधते शीतः' (उत्तर) 'कम्बलवन्तं न बाधते शीतः'** इत्यादि।

२. कई प्रश्नोंका एक भिन्न संदर्भवाले वाक्यद्वारा उत्तर जैसे—**'भोजनान्ते च किं पेयम् ? जयन्तः कस्य वै सुतः ? नृशरीरं कथं प्रोक्तम् ? तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्'** (**'तक्रम्'** प्रथम प्रश्नका, **'शक्रस्य'** द्वितीयका और **'दुर्लभम्'** तृतीय प्रश्नका उत्तर है।) इस प्रकारके असंख्य उदाहरण संस्कृत साहित्यमें पदे-पदे दृष्टिगत होते हैं।

आधुनिक युगमें सर्वप्रथम जर्मनवासियोंका ध्यान संस्कृत-भाषाकी ओर गया। कहा जाता है कि जर्मन भाषा यूरोपभरमें सर्वाधिक पिछड़ी मानी जाती थी। परंतु जब संस्कृत भाषाके व्याकरणके आधारपर उन्होंने अपनी भाषाको व्याकरणके नियमोंमें उपनिबद्ध एवं परिष्कृत किया, तब सब यूरोपके लोग चकित रह गये। तबसे संस्कृतका महत्त्व ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, रूस, इटली और अमेरिकामें बढ़ गया। प्रायः ये सभी देश संस्कृतके प्राचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें लग गये। कालान्तरमें जर्मनवासियोंने वैमानिकी-कलासे लेकर परमाणु बमतकके आविष्कारसे सम्पूर्ण विश्वको आश्चर्यमें डाल दिया। साधनाभावसे इस क्षेत्रमें भारतवासी पिछड़ गये हैं, परंतु जर्मनवासी अब भी संस्कृतके ऋणी हैं। जर्मनीको 'संस्कृत' की द्वितीय मातृभूमि भी कहा जाता है। सम्प्रति भारतवासियोंको भी संस्कृत-भाषाके इस दिव्य गौरवसे परिचित होने एवं इसे आत्मसात् करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि विश्वका श्रेष्ठतम ज्ञान-विज्ञान देववाणीमें ही निहित है।

हृदयकी बात

प्रभो ! तुम्हारे और मेरे बीच पड़े हुए कुछ-कुछ उजले अन्धकारके इस पटलके कारण मुझे तुम्हारी वह सहस्त्रों सूर्योंके तेजसे भी अधिक तेजस्वी मुनि-मन-मोहिनी परम दिव्य छबि स्पष्ट नहीं दिखायी देती। इसीलिये ये प्राण व्याकुल हैं। नाथ ! यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि अन्धकारके पटलके इस ओर भी तुम्हारी ही निम्न (अपरा) प्रकृतिके इस राज्यमें, जहाँ मैं हूँ, तुम्हारी कृपा मेरे ऊपर बनी है। तुम्हारे प्रेमके प्रकाशसे ही तो वह सघन और अन्धकारका पटल कुछ-कुछ उजला-सा हो गया है। नहीं तो निम्न प्रकृतिके इस तमाच्छादित बीहड़ वनमें, जहाँ घोर हिंस्र पशु इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूम रहे हैं, मेरे लिये तुम्हारी ओर बढ़ना असम्भव हो जाता। पर मेरे सर्वस्व ! वह समय कब आयेगा जब कि तुम्हारे और मेरे बीचका यह अन्धकार पूर्णतया विलीन हो जायगा और तुम मेरे इतने निकट पहुँच जाओगे कि मैं परम आह्लादसे अपना मस्तक तुम्हारे चरणोंपर रख दूँगा और मिलनके इस अनिर्वचनीय आनन्दमें मुझे तन-मनकी भी सुधि नहीं रहेगी ? बस, फिर आगे क्या होगा सो तुम्हीं जानो !

प्रभो ! अपने इस प्रकारके दिव्य दर्शनसे कृतकृत्य करना तो पूर्णतया तुम्हारी ही इच्छापर निर्भर है। तुम जब चाहो तब मिलो। यह बिलकुल ही मेरे हाथकी बात नहीं है। नाथ ! मैं तो केवल जिस तरह तृषित चातक चोंच खोलकर मेघ-मण्डलकी ओर निहारता हुआ स्वाती-बिन्दुके लिये आशा लगाये बैठा रहता है, उसी तरहसे आशा लगाये बैठा हूँ !

भागवतीय प्रवचन— ३८

सांसारिक भोगोंकी दुःखरूपता

(कृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

एक बार भगवान् कपिल बिन्दुसर-तीर्थमें एक आसनपर दिव्य एवं शान्त मुद्रामें आसीन थे, उसी समय उनकी माता देवहूति उनके पास आयीं और शरणागत होकर तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करने लगीं। भगवान् कपिलदेवने उन्हें जिस तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया, वह 'कपिल-गीता'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके अध्याय २५से अध्याय ३३ तक यह 'कपिल-गीता' वर्णित है। इसमें मुख्यरूपसे सांख्यशास्त्रका उपदेश है। तीन अध्यायोंमें पहले वेदान्तका ज्ञान है और अन्तमें भक्तिका वर्णन किया गया है, फिर उसके बाद संसार-चक्रका वर्णन है।

देवहूतिने सोचा कि ऋषियोंने मुझसे कहा था कि यह बालक माताका उद्धार करनेके लिये आया है, तो मैं कपिल भगवान्से प्रश्न पूछूँ, जिसका उत्तर वे अवश्य देंगे। देवहूतिने कपिल भगवान्के पास आकर कहा—भगवन्! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहती हूँ।

कपिलने कहा—माता! आप संकोच न करें, जो कुछ पूछना चाहती हैं, पूछें।

माता देवहूतिने आरम्भमें ही शरणागति स्वीकार कर ली थी। बिना ईश्वरका आश्रय लिये जीवका उद्धार नहीं हो सकता। गीतामें अर्जुनने भी पहले शरणागति स्वीकार की थी और भगवान्से कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

देवहूतिने कहा—प्रभो! जगत्में सच्चा सुख कहाँ है? जगत्में सच्चा आनन्द कहाँ है? नित्य आनन्द कहाँ है? जिसका नाश न हो सके, कृपाकर ऐसा आनन्द मुझे बतायें। अनेक बार इन्द्रियोंका लालन-पालन करनेपर भी मुझे शान्ति नहीं मिली है। समय बीतते जानेपर भान होता है कि विषयोंके आनन्दमें कोई सार नहीं है। इन्द्रियोंने जो कुछ माँगा, वह सभी मैंने दिया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

इन्द्रियाँ प्रतिदिन नये-नये विषय माँगती हैं। जीवको रससुखकी ओर खींचती हैं। आँखें रूपसुखकी ओर और त्वचा स्पर्शसुखकी ओर खींचती है।

एक स्थानपर शंकरस्वामीने कहा है कि ये इन्द्रियाँ चोर हैं। इन्द्रियाँ तो चोरसे भी अधिक बुरी हैं। चोर तो जिसके घरमें, जिसके सहारे रहता है, वहाँ चोरी नहीं करता, जब कि इन्द्रियाँ तो अपने पतिके समान आत्माको ही धोखा देती हैं। देवहूति कहती है कि इन चोर-सी इन्द्रियोंसे मैं उकता गयी हूँ। मुझे बतायें कि जगत्में सच्चा सुख, सच्चा आनन्द कहाँ है और उसे पानेका साधन कौन-सा है।

कपिल भगवान्को आनन्द हुआ। वे बोले—माताजी! किसी जड़ वस्तुमें आनन्द नहीं रह सकता। आनन्द तो आत्माका स्वरूप है। अज्ञानवश जीव जड वस्तुमें आनन्द ढूँढ़ता है। जड वस्तुमें आनन्द रह नहीं सकता। संसारके विषय सुख तो देते हैं, किंतु आनन्द नहीं देते। जो सुख देगा, वही दुःख भी देगा, किंतु भगवान् हमेशा आनन्द ही देंगे। आनन्द परमात्माका स्वरूप है।

संसारका सुख खुजली (चमड़ीकी एक बीमारी) जैसा है जबतक आप खुजलाते रहते हैं, तबतक अच्छा लगता है। किंतु खुजलानेसे नाखूनमें रहे हुए जहरके कारण खुजलीका रोग बढ़ जाता है। सर्वोत्तम मिठाईका स्वाद भी गलेतक ही रहता है।

जगत्के पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। उसका भासमात्र है। यह जगत् दुःखरूप है। गीताजीमें भी कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! क्षणभङ्गुर और सुखरहित इस जगत्को और मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके तू मेरा ही भजन कर।

आरम्भमें जड वस्तुमें सुखका-सा अनुभव होता है, किंतु वह सुख विषमय ही है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

विषयों और इन्द्रियोंके संयमसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह आरम्भमें (भोगकालमें) तो अमृत-जैसा लगता है, किंतु

परिणामकी दृष्टिसे तो वह विष-समान ही है। इसी कारणसे इस सुखको राजस कहा गया है।

इन्द्रियोंकी सुखसे तृप्ति नहीं होती। विवेकरूपी धनका हरण करके इन्द्रियाँ जीवको संसाररूपी गर्तमें फेंक देती हैं। बाहरके विषयोंमें न तो आनन्द है और न तो सुख। आनन्द बाहर नहीं, अंदर है, आत्मामें है। आनन्द अविनाशी अन्तर्यामीका स्वरूप है। कपिल आगे कहते हैं—हे माता! यदि शरीरमें आनन्द होता तो उसमेंसे प्राणोंके निकल जानेके बाद भी लोग उसे सँजोकर अपने पास रखते।

विषय जड हैं। जड पदार्थमें आनन्द रह नहीं सकता। चैतन्यके स्पर्शके कारण ही जड पदार्थमें आनन्द-सा प्रतीत होता है।

दो शरीरोंके स्पर्शसे सुख नहीं मिलता, किंतु दो प्राणोंके एक होनेसे आनन्दका अनुभव होता है। यदि दो प्राणोंके इकट्ठे होनेपर सुख मिलता है तो जिसमें अनेक प्राण समाये हुए हैं, ऐसे परमात्माके मिलनेसे कितना अधिक आनन्द होता होगा!

बाहरके विषयोंमें आनन्द नहीं है। किंतु चित्तमें, मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़नेसे आनन्द-सा अनुभव होता है। इन्द्रियोंको मनचाहा पदार्थ मिलनेपर विषयोंमें वे तद्रूप हो जाती हैं, अतः कुछ समयके लिये चित्त एकाग्र व एकाकार होता है। उस समय चित्तमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे आनन्दका भास होता है। वह जगत्के विषयोंमें जबतक फँसा हुआ है, तबतक आनन्द नहीं मिल सकेगा। आनन्द आत्माका उसी प्रकार सहज स्वरूप है कि जिस प्रकार शीतलता जलका सहज स्वरूप है। आनन्द आत्मामें ही है।

आत्मा और परमात्माका मिलन ही परमानन्द है। भगवान्में मन फँसे और डूबने लगे तभी आनन्द मिलता है।

बार-बार अपने मनको समझाना चाहिये कि संसारके जड पदार्थोंमें सुख नहीं है। सोनेपर सब भूल जानेसे आनन्द मिलता है। सारे संसारको भूलनेके बाद ही गाढ़ी नींद आती है।

आत्मा तो नित्य, शुद्ध और आनन्दरूप है। सुख-दुःख तो मनके धर्म हैं। मनके निर्विषय होनेपर आनन्द मिलता है। दृश्यमेंसे दृष्टिको हटाकर द्रष्टामें स्थिर किया जाय तो आनन्द मिलेगा। आनन्द परमात्माका स्वरूप है।

कपिल कहते हैं—माताजी! यदि विषयोंमें ही आनन्द समाया हुआ हो तो सभीको सदा एक समान आनन्द मिलना चाहिये। तृप्त व्यक्तिके आगे यदि श्रीखण्ड भी रखा जायगा तो उसे पसंद नहीं आयगा। बीमार व्यक्तिके सामने मालपुए रखे जायँ तो भी वह नहीं खायेगा। अतः श्रीखण्डमें, मालपुओंमें अर्थात् विषयोंमें, जड पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। यदि श्रीखण्डमें आनन्द समाया हुआ होता तो बीमारको भी उसे खानेसे आनन्द मिलना चाहिये था। किंतु उसे आनन्द नहीं मिलता, अतः आनन्द श्रीखण्डमें नहीं है। इसी प्रकार सभी विषयोंके बारेमें भी समझना चाहिये।

संसारके पदार्थोंमें आनन्द तो नहीं है, किंतु इन्द्रियोंको मनचाहे विषय, पदार्थ मिलनेपर वे अन्तर्मुख होती हैं। अन्तर्मुख हुए मनमें ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है अतः आनन्द होता है। मनके अंदर आनेपर सुख मिलता है और बाहर जानेपर सुख उड़ जाता है। कल्पना करो कि एक सेठ श्रीखण्ड-पूरीका भोजन कर रहा है। इतनेमें कहींसे तार आता है कि उनका कारोबार डूब गया तो वही श्रीखण्ड उसे जहर-जैसा लगेगा और खानेको दिल ही नहीं होगा।

संसारके जड पदार्थोंमें आनन्द नहीं है। जब-जब आनन्द मिलता है, चेतन परमात्माके सम्बन्धके कारण ही मिलता है। परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेपर ही आनन्द मिलेगा। जीव कपटी है, परमात्मा भोले हैं। जीव उपेक्षा करेगा तो भी परमात्मा उसके अपराधको क्षमा कर देंगे। आनन्द नारायणका स्वरूप ही है।

आनन्दका विरोधी शब्द नहीं मिलेगा। आनन्द यह ब्रह्मस्वरूप है। जीवात्मा भी आनन्द-रूप है। अज्ञानके कारण जीव आनन्दको ढूँढ़नेके लिये बाहर जाता है। बाहरका आनन्द लंबे समयतक टिक नहीं सकता।

आत्माके लिये कोई वास्तविक सुख-दुःख नहीं है। सुख-दुःख मनमें ही होते हैं। सुख-दुःख मनका धर्म है। जन्म-मरण शरीरका धर्म है। भूख और प्यास आत्माके धर्म हैं। मनमें सुख-दुःख होनेपर आत्मा कल्पना करती है कि मुझे दुःख होता है। मनपर हुए सुख-दुःखका आरोप अज्ञानसे आत्मा अपनेपर करती है। आत्मस्वरूपमें उपाधिके कारण सुख-दुःखका भास होता है। आत्मा स्फटिकमणि-जैसी श्वेत,

शुद्ध है। उसमें विषयोंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे मनके कारण आत्मा मानती है कि उसे दुःख-सुख हुआ है। स्फटिकमणिके पीछे जिस रंगका फूल रखोगे वैसी ही वह दीखेगी। वह रंग स्फटिकका नहीं, फूलका ही है। स्फटिकमणि श्वेत है। उसके पीछे लाल गुलाबका फूल रखोगे तो वह लाल दीखेगी। गुलाबके संसर्गसे वह लाल भासित होती है।

जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जलकी गतिशीलताके कारण वह प्रतिबिम्ब भी हलचल करता है, कम्पित होता है। किंतु वास्तविक चन्द्रमापर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसी तरह देहादिके धर्म, स्वयंमें न होते हुए भी जीवात्मा उन्हें अपनेमें कल्पित कर लेता है। अन्यथा जीवात्मा तो निर्लेप है।

जीवात्मामें देखे जाते हुए देहादिके धर्म निष्काम भागवत-धर्मके अनुसरणसे, भगवान्‌की कृपासे और उसीसे प्राप्त भगवान्‌परक भक्तियोगसे धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। जो भक्तिनिष्ठ है वह समस्त लोकमें व्याप्त परमात्माको देख सकेगा। संसारके विषयोंसे सभी प्रकारसे हटा मन जब ईश्वरमें लीन होता है, तभी वह आनन्दरूप होता है।

शङ्का-समाधान—

सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है तन्मयता

(स्वामी श्रीशंकरानन्दजी महाराज)

शङ्का—किसी विरक्त संतसे किसी गृहस्थने पूछा कि सभी प्राणी चाहते हैं कि हम सुखी ही रहें, दुःखी न हों, परंतु ऐसा हो नहीं पाता, इसका कारण क्या है? संतने कहा कि सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु मनका तन्मय अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलतामें मनका तदाकार हो जाना ही है। संतके वचनका क्या तात्पर्य है, मैं समझ नहीं पाया। उनसे पूछनेका साहस न होनेके कारण आपसे पूछता हूँ, समाधान करनेकी कृपा करें। मैंने तो अन्य संतोंके मुखारविन्दसे तथा सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे यही जाना था कि स्वार्थकी पूर्ति-अपूर्तिसे ही मानव सुखी-दुःखी होता है। मेरा अनुभव भी इसीका समर्थन करता है।

***समाधान*—**स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, दया, दर्शन, श्रवण, सत्यताकी कल्पना तथा तन्मयता—इन कारणोंसे मानव सुखी-दुःखी होता है। इनमेंसे स्वार्थ आदि कारण मनकी तन्मयताद्वारा ही सुखी-दुःखी करनेमें हेतु होते हैं, साक्षात् हेतु नहीं होते, इसलिये ही संतने तन्मयताको हेतु कहा है। देखिये—

स्वार्थ—जब मैं घरमें रहता था, तब माताजीकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे सुखी-दुःखी हो जाता था। इसी प्रकार मेरी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंसे माताजी सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इसका कारण यह था कि माताजीको छोडकर मेरा और कोई मुख्य आश्रय न था। इसी प्रकार माताजीके लिये मेरे सिवा और कोई मुख्य आश्रय न था। अतः स्वार्थके कारण दोनों सुखी-दुःखी होते थे। तन-धन-जन-मान-अपमान आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे भी मानव सुखी-दुःखी होता है। इन सबका समावेश स्वार्थमें ही हो जाता है। इसलिये अलगसे कथन नहीं किया।

सम्बन्ध—जब मैं घर छोड़कर साधु हो गया, तब माताजीका मुझसे और मेरा माताजीसे कोई स्वार्थ सिद्ध न होनेपर भी माताजीकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको सुनकर मैं सुखी-दुःखी हो जाता। इसी प्रकार माताजी भी मेरी अनुकूलता-प्रतिकूलताको सुनकर सुखी-दुःखी हो जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि स्वार्थके बिना सम्बन्ध भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होता है। सम्बन्धके अन्तर्गत आसक्ति-ममता-मोह आ जाते हैं। अतः अलगसे विवेचन नहीं किया।

परिचय—एक पुराने परिचित व्यक्ति स्टेशनपर मिले। रुपये गिर जानेसे बड़े संकटमें थे, भूखे-प्यासे थे। उनके कष्टको देखकर मैं दुःखी हो गया। एक सज्जनको उनके गिरे रुपये मिल गये, उन्होंने ईमानदारीसे पूरे रुपये लाकर दे दिये। इससे मेरे परिचित व्यक्ति और मैं दोनों ही सुखी हो गये। इससे सिद्ध हो जाता है कि स्वार्थ और सम्बन्ध न होनेपर भी परिचय भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होता है।

दया—एक सर्वथा अपरिचित व्यक्तिको और उसके साथ रहनेवाले एक कुत्तेको किसी दुष्टने बुरी तरह घायल कर

दिया। देखकर बड़ी दया आयी—दुःखी हो गया। स्वार्थ, सम्बन्ध तथा परिचय न होनेपर भी दयाके कारण दुःखी हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दया भी दुःखी होनेमें हेतु है। ऐसी दयाको भागवतमें परमात्माकी आराधना कहा गया है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(८।७।४४)

सामान्यजन अपने ही दुःखसे दुःखी होते हैं, परंतु प्रायः साधुजन दूसरे लोगोंके ताप (दुःख) से तपते (दुःखी) होते हैं। अखिलात्मा परमात्माकी यह परम उपासना ही है।

सत्यताकी कल्पना—एक व्यक्तिने आकर सुनाया कि गैया मैयाको एक दुष्ट लाठीसे मार रहा है। सुनकर मैं दुःखी हो गया। दूसरे व्यक्तिने आकर बताया कि पुलिसने दुष्टको पकड़ लिया, गायको मारसे बचा लिया। सुनकर मैं सुखी हो गया। तीसरे व्यक्तिने आकर बताया कि दोनों व्यक्तियोंके द्वारा बताया गया समाचार सत्य नहीं है। यह सुनकर सुख-दुःख दोनों ही समाप्त हो गये। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि घटनाकी सत्यताकी कल्पना भी सुखी-दुःखी होनेमें हेतु होती है।

तन्मयता—पहलेसे ही भलीभाँति जानता हूँ कि जो कहानी मैं पढ़ रहा हूँ, वह सत्य नहीं है, लेखककी कल्पना मात्र है। फिर भी जब पढ़ते समय तन्मय हो जाता हूँ तो सुखी-दुःखी हो जाता हूँ, इतना ही नहीं, हँसने-रोने लग जाता हूँ। इससे सुस्पष्ट हो जाता है कि स्वार्थ, सम्बन्ध, परिचय, सत्यताकी कल्पनाके बिना तन्मयतासे ही सुखी-दुःखी हुआ। अतः संतका तन्मयताको सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु बताना संतका सर्वथा ठीक है। यही कारण है कि स्वार्थ आदि ऊपर बताये हेतुओंसे सुखी-दुःखी होनेवाले मानव चौबीस घंटे भी बराबर एक समान सुखी-दुःखी नहीं रह पाते, क्योंकि तन्मयता एक-सी नहीं रह पाती।

'तन्मयता ही सुखी-दुःखी होनेमें मुख्य हेतु है' इस रहस्यको जान लेनेसे एक बड़ा लाभ यह होता है कि किसी संत या साधकको कभी सुखी-दुःखी देखकर 'ये स्वार्थ या सम्बन्धके कारण ही सुखी-दुःखी हो रहे हैं' ऐसी दूषित धारणा नहीं बनती। एवं कभी तन्मयताके कारण स्वयं सुखी-दुःखी होनेपर 'मेरे हृदयमें अवश्य कुछ स्वार्थ छिपा होगा, नहीं तो सुखी-दुःखी हो ही नहीं सकता' ऐसी भ्रान्त धारणासे अपनेमें हीनताका भाव नहीं आता। वास्तविक बात यह है कि स्वार्थ आदि किस हेतुसे तन्मय होकर सुखी-दुःखी हो रहा हूँ, इस बातको ठीक-ठीक वही व्यक्ति जान सकता है, दूसरा नहीं। अतः उस हेतुको ही दूर करनेका प्रयास करना चाहिये।

उस हेतुको दूर करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वह जीवनमें कितनी गहराईसे प्रविष्ट है। उसके अनुसार यथासम्भव प्रयास करनेपर ही समयपर सफलता मिलेगी। प्रायः स्वार्थ और बन्धुओंसे स्नेह-रूप अनुबन्ध (सम्बन्ध) जीवनमें गहराईसे प्रविष्ट होनेके कारण शीघ्र तन्मयता उत्पन्न करके सुखी-दुःखी कर देते हैं, इसलिये संत एवं सद्ग्रन्थ स्वार्थ और सम्बन्धको सुखी-दुःखी होनेमें हेतु कहते हैं और सभीको वैसा अनुभव होता है। गहराईमें प्रविष्ट होनेके कारण इनका त्याग साधारण साधकोंके लिये ही नहीं, अपितु मुनियोंके लिये भी कठिन होता है। ऐसा भागवतमें कहा गया है—

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥

(१०।४७।५)

इसलिये शीघ्र सफलता न मिलनेपर निराश नहीं होना चाहिये, धैर्यपूर्वक प्रयास करते ही रहना चाहिये।

क्या अच्छा है ?

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचिर्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम्॥

चुप रहना अच्छा है पर मिथ्या वचन कहना अच्छा नहीं, पुरुषका नपुंसक हो जाना अच्छा है, परंतु पर-स्त्री-गमन अच्छा नहीं। प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा है, परंतु चुगुलोंकी बातोंमें रुचि रखना अच्छा नहीं और भिक्षा माँगकर खा लेना अच्छा है, परंतु दूसरोंके धनके उपभोगका सुख अच्छा नहीं है।

विश्वहितके लिये हमारी सनातन प्रार्थना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(शुक्लयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

पूर्ण है यह, पूर्ण है वह पूर्णसे निष्पन्न होता पूर्ण है।
पूर्णमेंसे पूर्णको यदि लें निकाल शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ सह नाववतु ॥ सह नौ भुनक्तु ॥ सह वीर्यं करवावहै ॥ तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

हे परमात्मन् ! है विनय हमारी हम गुरु-शिष्य रहें नित साथ।
रक्षित हों, परिपोषित हों, बल प्राप्त करें हम दोनों साथ ॥
विद्याध्ययन हमारा हो तेजस्वी विजय प्रभावी हो।
पारस्परिक स्नेहसूत्र बन्धनयुत आत्म-प्रभावी हो ॥
द्वेषभावसे मुक्त सदा हम रहें प्रभो हे परमात्मन् !
निवृत्त करो हम दोनोंको, बस त्रिविध तापसे मुक्त करो ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(सामवेदीय शान्तिपाठ)

हे परमात्मन् ! हे दयानिधान ! विनय सुनो हे श्रीभगवान्।
नेत्र, श्रोत्र, वाणी सकल अंग, प्राण, ओज आदि,
कर्मेन्द्रियाँ, प्राणेन्द्रियाँ, दैहिक, मानसिक अनादि ॥
शक्तियाँ हों पुष्ट सभी शुभ संवर्धित होवें सारी,
दिनदूनी चौगुनी रातमें खिले सदा भवभयहारी।
उपनिषदोंमें वर्णित सर्वस्वरूप ब्रह्म स्वीकारूँ मैं,
जप, तप, साधन, ध्यान धरूँ वह कभी न अस्वीकारूँ मैं ॥
मुख मोड़े न कभी मुझसे वह ब्रह्म, उसे अपनाऊँ मैं,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक है, यही समझ अब पाऊँ मैं।
मैं हूँ ब्रह्म, ब्रह्म हूँ मैं, सम्बन्ध नित्य यह बँधा रहे,
उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका विवरण, मुझमें सधा रहे ॥
सब धर्मोंका लक्ष्य एक, परमात्म-ब्रह्ममें लीन रहें,
साधक हूँ मुझमें प्रतिभासित आलोकित लवलीन रहें।
मैं नित्य निरन्तर सजग रहूँ वे सधर्म मुझमें बने रहें,
आध्यात्मिक आदि, त्रिविध तापोंसे मन मेरा निवृत्त रहे ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(अथर्ववेदीय शान्तिपाठ)

हे देवगण ! हैं आप सब वन्दन करें हम आपको,
विनती सुनो हे देवगण ! हम याद करते आपको।
है भावना मनमें यही हम नमन-श्रवण सदा करें,
कल्याणकारी शुभ सुखद वचनामृतोंका पान करें ॥
हम अग्निहोत्री हैं, हमारे नेत्र शुभ दर्शन करें,
सद्भावरूप स्वरूपका दर्शन सदा मङ्गल करें।
हर एक अवयव हो सुदृढ़ इस देहका, यह पुष्ट हो,
इससे स्तवन भगवान्का करना हमें, वे तुष्ट हों।
दीर्घायु हों, हम कार्यमें भगवान्के नित आ सकें,
जिनका सुयश सब ओर फैला, कृपा उनकी पा सकें।
देवाधिपति हैं इन्द्र वे, हैं बुद्धिराज बृहस्पति,
सर्वज्ञ, पूषा, सूर्यदेव अरिष्ट-निवारक खगपति ॥
श्रीगरुड, दिव्य विभूतियाँ भगवान्की अनुभूतियाँ,
अनुकूल होवें ये सदा जीवन कलात्मक सूक्तियाँ।
कल्याणकारी हों हमें, पोषण हमारा ये करें,
इनकी कृपाके संग दुनियाका भला होता रहे ॥
आध्यात्मिक,आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध ये,
इन सुप्त तापोंसे सदा हो शान्ति हों संतुलित ये ॥

(अनु०—श्रीमदालसा नारायण)

[प्रेषक—श्रीजयदयालजी डालमिया]

भक्त-गाथा—

श्रीत्रिभुवन पाण्डेय

काशीसे लगभग सोलह मील दक्षिण चन्द्रप्रभा नामक एक छोटी-सी पवित्र नदी बहती है। उसके तटपर पसही नामक एक छोटा-सा गाँव है। दो-ढाई सौ घर होंगे उस गाँवमें। श्रीत्रिभुवनजी पाण्डेयने उसी गाँवके पं० श्रीरमाकान्तजी पाण्डेयकी सौभाग्यवती पत्नी श्रीदुलारीदेवीकी कोखसे जन्म लिया था।

श्रीरमाकान्तजी अत्यन्त सरल एवं सात्त्विक पुरुष थे। गाँवके जमींदार थे, धन-धान्यसे सम्पन्न। आस-पास सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा थी। अत्यन्त प्यारके कारण वे श्रीत्रिभुवनको 'बच्चन' कहा करते थे। इनके प्यारका यह 'बच्चन' नाम ही आगे चलकर प्रसिद्ध हो गया। बच्चन पाण्डेयकी शिक्षा बहुत थोड़ी हो पायी, पर इनके जीवनपर बाल्यकालसे ही संतके जीवनका अद्भुत एवं प्रगाढ़ प्रभाव पड़ा था।

श्रीबच्चन पाण्डेयके चाचा श्रीयज्ञनारायणजी संत पुरुष थे। उन्होंने दो अन्य महात्माओंके साथ श्रीअवधधामसे पैदल श्रीरामेश्वरम्‌की यात्रा की थी। वे रामायणके मर्मज्ञ थे। भगवान् श्रीराम जिस मार्गसे जहाँ-जहाँ विश्राम करते हुए श्रीरामेश्वर पहुँचे थे, ये भी रामायणकी कथा कहते-सुनते उसी मार्गसे वहाँ-वहाँ विश्राम करते हुए वहाँ पहुँचे। कहते हैं, श्रीबद्रीविशालके दर्शनार्थ जाते समय उन्हें भगवान्‌के दर्शन हुए थे। श्रीतुलसीदासजीकृत समस्त ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ थे। वे बच्चन पाण्डेयका बहुत लाड़ करते। उन्हें अङ्कमें ले गीतावलीके गीत और कवितावलीके कवित्त-सवैया मधुर कण्ठसे गा-गाकर सुनाया करते। इस कारण गीतावलीके कितने ही पद बच्चनजीको बाल्यकालमें ही कण्ठस्थ हो गये थे।

कुछ ही बड़े होनेपर गृहस्थीका भार इनके ऊपर आ गया। पिताजी चल बसे, पर भगवद्भक्त चाचाकी छाया उनपर बनी रही। नियमित रूपसे भगवच्चर्चा उन्हें सुननेके लिये मिला करती थी। प्रतिदिन स्नान एवं भगवान् तारकेश्वरका पूजन उनका आवश्यक कार्य था। पूजामें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। श्रीतारकेश्वरजीकी पूजा किये बिना वे अन्न ग्रहण नहीं करते थे। (चन्द्रप्रभाके तटपर पक्का घाट एवं श्रीतारकेश्वरमहादेवका विशाल मन्दिर उनके चाचाके उत्साह एवं सहयोगसे ही बना।) बाबा तारकेश्वरकी श्रद्धा एवं प्रेमसे उनका हृदय प्लावित रहता।

बच्चन पाण्डेयका जीवन अत्यन्त सरल था। मिलनेवाले इनसे सदा प्रेम पाते और गद्गद वापस लौटते। पास-पड़ोस एवं गाँवके सारे झगड़े ये सुलझाते। कभी किसी भी पक्षको इनके न्यायके विपरीत एक शब्द भी कहनेका अवसर नहीं मिला और कटुता बढ़ नहीं पायी। गाँवमें किसीके घरमें तनिक भी कलह हुआ कि परिवारके लोग इनके पास पहुँच जाते। अपना आवश्यक कार्य छोड़कर भी जबतक ये परिवारमें प्रेम स्थापित नहीं करा लेते, तबतक अपना कोई कार्य भी नहीं करते। इसी कारण अनेक वृद्ध पुरुषोंके रहते भी ये गाँवके मुखिया बना दिये गये थे।

कुछ दिनों बाद इनके चाचाजी चल बसे। उस समय ये घबरा-से गये। इनके जीवनको सुखद बनानेका आधार अध्यात्म था और ये अध्यात्म-चर्चाएँ इन्हें अपने चाचाजीसे निरन्तर सुननेको मिलती रहतीं। भगवत्कथा-श्रवणमें आनन्दित होकर ये रोने लगते। चाचाके परलोकवासके बाद ये प्रायः बाबा तारकेश्वरके चरणोंमें बैठे रहते। मध्याह्नतक बिल्वपत्र एवं धतूरेका पुष्प लेकर उनकी पूजा करते एवं उनका जप करते। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें इनका मन शान्त होने लगा, पर इसी बीच इनकी माता दुलारीदेवीका शरीरान्त हो गया। इतना ही नहीं, इनकी एक लड़की और लड़का भी चल बसा। लड़का बस एक ही था, किंतु उस समय इनके मनपर जैसे कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ा। संसारकी असारतापर इनका दृढ़ विश्वास एवं मन धीरे-धीरे भगवान्‌के चरणोंमें अत्यधिक अनुरक्त होने लगा। ये अपने एकमात्र छोटे भाई राजनारायणको समय-समयपर संसारकी निस्सारता और भगवत्प्रेमकी बातें सुनाया करते। जीवका परम कल्याण जगदाधार स्वामीके चरणोंकी संनिधिमें ही है—वे बताया करते।

बहुत दिनों बाद उन्हें पुनः एक पुत्र उत्पन्न हुआ, पर उस समयतक तो उनका मन परिवारमें रहते हुए भी परिवारसे तटस्थ हो गया था। घरका सारा कार्य राजनारायण देखते।

बच्चन पाण्डेय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहते। हाँ, नाम-जपके साथ वे अपने खेत तथा बाग-बगीचा अवश्य हो आते। आवश्यकतानुसार कार्य-निर्देश भी कर देते, पर बाबा तारकेश्वरकी पूजा-अर्चाके प्रति उनका आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया। उनके जीवनका मुख्य उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो गया था। फिर संसारका आकर्षण उन्हें किस प्रकार बाँध पाता। उनकी तन्मयता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और उन्हें संसार जैसे काटने दौड़ने लगा। प्रभुकी विशुद्ध प्रीतिकी प्राप्तिके बाद सचमुच जगत्‌में कहीं भी रसकी अनुभूति नहीं हो पाती।

अचानक वे बीमार पड़ गये। उनके छोटे भाई राजनारायणने उनके चिकित्साकी पूरी व्यवस्था की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। वे अपना पार्थिव शरीर काशीमें छोड़ना चाहते थे, पर मोहके कारण परिवार उनके जीवनकी आशासे घरपर ही उनकी चिकित्सा करवा रहा था। वे धीरे-धीरे अच्छे होने लगे। कुछ ठीक होनेपर उन्होंने काशी चलनेके लिये आग्रह किया और बोले—'काशी चलनेपर ही मुझे वास्तविक लाभ हो सकेगा।' बड़े भाईकी आज्ञाका सदा सादर पालन करनेवाले राजनारायणने उनके काशी ले चलनेकी व्यवस्था कर दी। बच्चन पाण्डेयने अपने बड़े-छोटे सबके सामने हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना की एवं प्रेमपूर्वक विदा ली।

काशीपुरी एवं गङ्गा मैयाके दर्शनकर उनके तन, मन और प्राण सभी शीतल हो गये। उनकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। गङ्गातटपर हाथ जोड़े वे गङ्गाजीकी निर्मल धाराका दर्शन और भगवान्‌के नामका मन-ही-मन जप कर रहे थे। अचानक उनकी साँस रुक गयी। उनकी आकृतिपर अखण्ड शान्ति खेल रही थी।

राजनारायण ही नहीं, वहाँ उपस्थित सभी जन चकित होकर देखते रह गये। 'धन्य थे ये' बरबस लोगोंके मुँहसे निकल पड़ा।

वास्तवमें जिन्हें जगत्‌की ममता-आसक्ति नहीं जकड़ पाती और जिनका जीवन प्रभु-पद-पद्मोंका तनिक भी स्पर्श पा जाता है, उन्हींका जीवन धन्य है।

अब तो मनमें आओ राम !

(श्रीअतुल्यकीर्तिजी व्यास)

अब तो मनमें आओ राम।
अधरोंपर तेरा ही नाम॥
तुम बिन सूना मेरा मन, रहे रिक्त सावनमें घन,
तप्त धरा पर बरसे रस, हो शीतल संतृप्त सरस,
हो जायें पूरण सब काम।
अब तो मनमें आओ राम॥
तुम ही जीवनके आधार, तुम मेरे मनके आगार,
तुमको है जीवन अर्पण, बसो मेरे तुम मन दर्पण,
पा जाऊँ पूरण विश्राम।
अब तो मनमें आओ राम॥
तुम मेरे मनके अधिकारी, मैं हूँ तेरा स्नेह-भिखारी,
दो मुझको अपना उपहार, कर लो मेरा मन स्वीकार,
और नहीं कुछ तुमसे काम।
अब तो मनमें आओ राम॥
अधरोंपर तेरा ही नाम।
अब तो मनमें आओ राम॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें निर्द्वन्द्व होनेकी महत्ता

रागद्वेषादयो द्वन्द्वाः शत्रवः सन्ति देहिनाम्।
तन्मुक्ताः साधकाः शीघ्रं भवेयुः सममाश्रिताः॥

सांसारिक कर्ममें संसारका सम्बन्ध रहता है और पारमार्थिक साधनमें संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख होना पड़ता है; अतः संसारका काम करें या पारमार्थिक साधन करें—यह द्वन्द्व है। इस द्वन्द्वके निवारणका उपाय यह है कि सांसारिक काम संसारके लिये न करके केवल भगवान्‌के लिये किया जाय। केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे सब-का-सब काम-धन्धा, सब-की-सब क्रियाएँ साधन हो जाती हैं। गीतामें नवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भगवान्‌ने '**यत्करोषि**' (तू जो कुछ करता है), '**यदश्नासि**' (तू जो कुछ खाता-पीता है), '**यज्जुहोषि**' (तू जो कुछ यज्ञ आदि करता है), '**ददासि यत्**' (तू जो कुछ दान देता है) और '**यत्तपस्यसि**' (तू जो कुछ तप करता है)—ये पाँच क्रियाएँ दी हैं। इनमेंसे '**करोषि**' और '**अश्नासि**'—ये दो क्रियाएँ सांसारिक हैं तथा '**जुहोषि**', '**ददासि**' और '**तपस्यसि**'—ये तीन क्रियाएँ शास्त्रीय हैं, पर इन पाँचों क्रियाओंका सम्बन्ध '**मदर्पणम्**'-(भगवदर्पण-)के साथ है। कारण कि पाँचों क्रियाओंके साथ '**यत्**' शब्द लगा हुआ है और अर्पण करनेके साथ '**तत्**' पद लगा हुआ है—'**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'। अतः ये पाँचों क्रियाएँ केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करनी चाहिये। इनमें किञ्चिन्मात्र भी अपनापन नहीं रहना चाहिये।

अर्पण दो तरहसे होता है—(१) क्रिया करके भगवान्‌के अर्पण कर देना और (२) शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब भगवान्‌के ही हैं—ऐसा मान लेना। इन दोनोंमेंसे दूसरा अर्पण श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें सब कुछ भगवान्‌के ही समर्पित है। इस तरह अर्पण करनेवाले भक्तकी लौकिक और शास्त्रीय सभी क्रियाएँ पारमार्थिक हो जाती हैं, भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाती हैं। फिर उसमें द्वन्द्व नहीं रहता।

अनुकूल परिस्थितिमें राजी और प्रतिकूल परिस्थितिमें नाराज होना भी द्वन्द्व है। इस द्वन्द्वसे व्यवहार बिगड़ता है, दुःख होता है और बन्धन दृढ़ होता है। परंतु जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें राजी-नाराज नहीं होता, इनमें सम रहता है, उसका व्यवहार ठीक तरहसे होता है, उसको दुःख नहीं होता और उसका कर्मबन्धन कट जाता है (२। ३८)। जैसे, जो माँ अपने बच्चोंमें द्वन्द्व रखती है, पक्षपात या विषमता रखती है, वह माँ होते हुए भी बच्चोंको प्रसन्न नहीं रख सकती, जिससे कुटुम्बमें कलह होता है, अशान्ति रहती है, मनमुटाव रहता है। द्वन्द्व, पक्षपात न रहनेसे कलह मिट जाता है और कुटुम्बमें शान्ति रहती है।

द्वन्द्व, विषमता, पक्षपात—ये जन्म-मरणके, दुःखोंके मूल हैं। इनके सर्वथा मिटनेपर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवान्‌ने द्वन्द्वोंमें सम रहनेको 'योग' कहा है (२। ४८)।

हम युद्ध करें या न करें, जीत हमारी होगी या उनकी (२। ६)—यह भी द्वन्द्व है; परंतु यह राग-द्वेषवाला द्वन्द्व नहीं है, प्रत्युत भविष्यकी चिन्तावाला द्वन्द्व है। इसी द्वन्द्वसे मोहित हुए अर्जुन भगवान्‌के शरण होकर उनसे अपना कर्तव्य पूछते हैं (२। ७)। उत्तरमें भगवान् कहते हैं—अगर तू युद्धमें मारा जायगा तो स्वर्गको प्राप्त होगा और युद्धमें जीत जायगा तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा (२। ३७)। अतः जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें सम होकर युद्ध कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा (२। ३८)। कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, कर्मके फलमें नहीं (२। ४७)। तू सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर कर्म कर (२। ४८); क्योंकि समबुद्धिसे युक्त मनुष्य इस जीवित-अवस्थामें ही पाप-पुण्यसे रहित हो जाता है (२। ५०)।

ये हमारे श्रोता हैं और ये हमारे श्रोता नहीं हैं, ये हमारे अनुयायी हैं और ये हमारे अनुयायी नहीं हैं, ये हमारे शिष्य हैं और ये हमारे शिष्य नहीं हैं; अतः जो हमारे श्रोता, अनुयायी और शिष्य हैं, उनको तो हम साधनकी बात बतायेंगे और जो हमारे श्रोता आदि नहीं हैं, उनको हम साधनकी बात नहीं बतायेंगे—इस तरह वक्ताके भीतर द्वन्द्व, विषमता, पक्षपात रहेगा तो उसमें राग-द्वेष होंगे। जबतक राग-द्वेष होते हैं, तबतक कल्याण नहीं होता; क्योंकि कल्याणके मार्गमें राग और द्वेष—ये दोनों शत्रु हैं (३। ३४)।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योग-मार्गोंमें साधकके लिये निर्द्वन्द्व होना बहुत आवश्यक है। अतः

भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह निर्द्वन्द्व होनेके लिये विशेष जोर दिया है; जैसे निर्द्वन्द्व होनेपर साधक कर्म करता हुआ भी बँधता नहीं (४।२२), द्वन्द्वोंसे मनुष्य संसारमें बँध जाता है (७।२७); परंतु निर्द्वन्द्व होनेसे मनुष्य सुखपूर्वक संसारसे मुक्त हो जाता है (५।३); निर्द्वन्द्व होनेपर ही साधक दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन कर सकते हैं (७।२८)। तात्पर्य है कि साधककी साधना निर्द्वन्द्व होनेसे ही दृढ़ होती है। इसीलिये भगवान् अर्जुनको निर्द्वन्द्व होनेकी आज्ञा देते हैं (२।४५)।

उपवाससे स्वास्थ्य-लाभ

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य)

भारतीय सनातन संस्कृतिमें व्रतोपवासका विशिष्ट स्थान है। यह हिन्दू-संस्कृतिका एक अभिन्न अङ्ग है। मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे मन तथा शरीरकी सर्वविध शुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये उपवासकी उपयोगिता निर्दिष्ट की गयी है और इसे सनातन धार्मिक जीवनका एक आवश्यक अङ्ग बतलाया गया है। इसी दृष्टिसे एकादशी आदिके उपवासोंका विधान है। कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतोंमें तो उपवास-कर्म प्रायश्चित्त-स्वरूप हो जाता है। वासिष्ठ धर्मशास्त्रमें उपवासको परिभाषित करते हुए कहा गया है—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः॥

—इसका भाव यह है कि उपवासमें सभी प्रकारके तामसी एवं राजसी इन्द्रिय-भोगोंसे विरति तथा सत्कर्मपूर्वक भगवद्भजन, ध्यानादि कर्म निर्दिष्ट रहते हैं। उपवासादिके अनुष्ठानसे सभी प्रकारके पाप-तापोंका उपशमन होता है और सत्कर्मरूप अनुष्ठानसे सद्गुणोंका संचय होता है। इस प्रकार उपवास एक पुण्यानुष्ठान है।

उपवासके दिन व्रतीको सात्त्विक एवं स्वल्प आहार-विहारका ही सेवन करना चाहिये। इससे न केवल शरीर स्वस्थ रहता है; अपितु मन भी दुर्विचारसे अलग होने लगता है। उपवासके द्वारा अनेक भीषणतम रोगोंके भी उपशमन, निदान एवं चिकित्सामें सहयोग प्राप्त होता है। आयुर्वेदादि चिकित्सा-पद्धतियोंमें ज्वरादि रोगोंको शान्त करनेके लिये प्रायः भोजन आदिका निषेध तथा पथ्यसेवनका विधान बताया गया है। इसलिये शरीरको स्वस्थ रखने तथा रोगोंके शमन करने-हेतु उपवासकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्सामें उपवासपर विशेष बल दिया गया है। उपवास पाचनतन्त्रको शक्ति प्रदान करता है। पाचन-संस्थानकी स्वस्थता ही आरोग्यकी पहली शर्त है।

शरीर एक यन्त्रकी तरह अनवरत कार्य करता रहता है। भोजनको पचाकर मलभाग बाहर फेंकना तथा सार-भागसे प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका पोषण करना इसका प्रमुख कार्य है। उपवास करनेसे पाचनक्रियामें भाग लेनेवाले अवयवों—आमाशय, आहार-नली, पित्ताशय, यकृत् तथा आँतोंको विश्राम मिलता है। अतिभोजनसे शरीरकी ऊर्जाका बहुत-सा भाग उसे पचानेमें ही व्यय हो जाता है, अतः विषाक्त द्रव्योंका पूरी तरहसे निराकरण नहीं हो पाता। यह अवस्था रोगोंको उत्पन्न करती है। बीमार होनेपर हमारी सारी शक्ति रोगकारक विष-द्रव्योंके निष्कासनमें लगी रहती है, फलतः भूख नहीं लगती। अतः रोगनिवारक सभी उपायोंमें उपवास प्राकृतिक सरल एवं श्रेष्ठ चिकित्सा है। पशु-पक्षी भी रोगग्रस्त होनेपर उपवास करते देखे जाते हैं। सभी प्राणियोंकी प्रथम चिकित्सा उपवास ही है।

उपवासके तीन उद्देश्य हैं—शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ। उपवाससे दमा, मोटापा, कब्ज, बवासीर, अपेंडिसाइटिस, संग्रहणी, गठिया तथा यकृत्‌के रोगोंमें बहुत लाभ होता है। प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ महर्षि चरकके अनुसार उल्टी, अतिसार, अजीर्ण, बुखार, शरीरका भारीपन, जी मिचलाना, अफारा, अरुचि आदि रोगोंमें उपवास परम औषध है। इससे शरीरमें रोग-प्रतिरोधक शक्ति एवं यौवनकी स्थिरता बनी रहती है। उपवाससे शरीर तथा मस्तिष्कके अवयव तरोताजा हो जाते हैं। पेट अन्नसे भरा होनेपर रक्तप्रवाह उदरकी तरफ अधिक होता है, जिससे मस्तिष्कको ऊर्जा कम मिलती है। व्रतसे शरीरके अनावश्यक भारका क्षय तथा भूखकी वृद्धि होती है। मानसिक दुर्बलता, अवसाद, चिन्ता आदि

व्याधियोंका उपवाससे निराकरण होता है। इससे नवीनता, स्फूर्ति एवं आत्मोन्नति होती है। डॉ॰ प्यूरिंगटनने आरोग्य, जीवनका आनन्द, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता, शान्ति तथा शक्ति चाहनेवालोंको उपवास करनेकी सलाह दी है।

व्यक्तिकी शारीरिक क्षमता तथा रोगके अनुसार १से २१ दिनतक उपवास करनेका विधान है। सिरदर्द, उदरविकार, जुकाम, गलेकी सूजन आदि रोगोंमें ३-४ दिनके छोटे उपवाससे लाभ हो जाता है। गठिया,लीवरके रोग एवं कैंसर आदिमें लंबा उपवास किया जाता है। मांसाहारीको लंबा तथा शाकाहारीको छोटा उपवास अपेक्षित है। स्वस्थ व्यक्तिको जीवनशक्ति बढ़ाने एवं स्वास्थ्यकी रक्षाहेतु सप्ताहमें एक दिन उपवास करना पर्याप्त है। उपवाससे बहुत-सा विषाक्त द्रव्य शरीरके मांसतन्तुओंसे निकलकर रक्तमें मिल जाता है, अतः विषका प्रभाव नष्ट करने और इसे शरीरसे बाहर निकालनेके लिये प्राकृतिक लवणोंकी आवश्यकता होती है, जो फलाहारसे प्राप्त होते हैं। लंबा उपवास करनेवालोंको केला, सेव, टमाटर, खीरा, गाजर, मूली, पालक, पत्तागोभी, शहद एवं छाछका प्रयोग करना चाहिये। साप्ताहिक उपवासमें केवल पानी या नींबूका पानी पीना पर्याप्त है। उपवासके प्रारम्भिक दिनोंमें पेटमें वायु, अनिद्रा, मुँहका बेस्वाद होना, दुर्गन्धपूर्ण पसीना आना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। धैर्यपूर्वक उपवास जारी रखनेपर इनका स्वतः ही शमन हो जाता है।

उपवास-कालमें बिस्तरपर न लेटकर चिन्तामुक्त रहते हुए हल्का कार्य करना चाहिये। धूपस्नान, मिट्टीस्नान, प्राणायाम, मौनधारण, दूबपर भ्रमण और स्नान उपवासके लाभको दुगुना कर देते हैं। बार-बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना भी लाभकारी है। अधिक ठंढा पेय, चाय, काफी तथा धूम्रपानका सेवन उपवासके लाभको नष्ट कर देता है। भूखे पेट रहकर चाँदनीका सेवन स्नायुतन्त्रको मजबूत बनाता है। लंबे उपवासको फलोंका रस या शहद लेकर खोलना चाहिये। कुछ दिनतक भारी भोजन करनेके बजाय फलाहारपर रहना उत्तम है।

भारतीय धार्मिक परम्परामें समय-समयपर विभिन्न व्रतोंका समावेश उत्तम स्वास्थ्यको लक्ष्यमें रखकर ही किया गया है। एकादशीके दिन मोटापा बढ़ानेवाले चावल आदि स्टार्चयुक्त पदार्थोंका निषेध तथा प्राणशक्ति बढ़ानेवाले फलाहारका निर्देश निश्चय ही प्रशंसनीय है।

भोजनके समान उपवासकी इच्छा होनेपर ही इसे करना चाहिये। उत्साह तथा प्रसन्नतापूर्वक किया गया उपवास अधिक लाभ करता है। भूख-प्यास सहन न करनेवालों, मुखशोष, चक्कर, न्यून रक्तचापसे ग्रस्त व्यक्तियों, बालक, गर्भिणी स्त्री तथा अतिवृद्धोंको यथाशक्ति ही उपवास करना चाहिये।

उपनिषद्-वाणी

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवोंके एक बीजको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उस देवको जो मतिमान् देखते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे प्रकाशित नहीं होते और न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है? सब उसके प्रकाशित होनेसे ही प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ। (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

परोपकारप्राणा पुण्यमयी गौ

(सुश्री मंजुलता मिश्रा, एम्० ए०, एम्० फिल्०)

मनुष्योंके सर्वविध कल्याणके लिये वेदोंमें अनेक प्रकारके यज्ञानुष्ठान बताये गये हैं। अग्निरूपी मुखसे देवताओंको यज्ञकी आहुतियाँ प्राप्त होती हैं—**'अग्निमुखा हि देवा भवन्ति'** और गायसे देवताओंको समर्पण करने योग्य हवि प्राप्त होता है। इसी कारण गायको **'हविर्दुघा'** (हविको प्रदान करनेवाली) कहा जाता है। गौ ही यज्ञकी प्रतिष्ठा है और गौ ही यज्ञके फलोंका कारण है—**'गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः।'**

यज्ञकी वेदीको पवित्र एवं स्वच्छ करनेके लिये गोबरकी आवश्यकता होती है। यज्ञाग्निको जलाने तथा प्रज्वलित करने-हेतु गोबरके कंडे (उपले) की आवश्यकता होती है। यज्ञमें तिल, जौ, चावल आदि अन्नोंके मिश्रणसे हवन करनेका विधान है। इन विविध अन्नोंको उत्पन्न करनेके तथा उसके लिये गौकी संतान बैलोंकी आवश्यकता होती है। यज्ञमें गोमातासे प्राप्त दूध, दही, घी, गोमय, गोमूत्रसे बने पञ्चगव्य-प्राशनका महत्त्व सर्वविदित है, इसलिये यज्ञकी सर्वस्वभूता तथा कृषि आदिकी भी मूल आधारभूता गोमाता ही है।

लोक-पितामह ब्रह्मा, जग-पोषक विष्णु एवं भगवान् शङ्करद्वारा भी कामधेनुकी स्तुति की गयी है। यथा—

त्वं माता सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम्।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे॥

(स्कन्द० ब्रह्म० धर्मारण्य १०।१८)

अर्थात् 'हे अनघे! तुम समस्त देवोंकी जननी तथा यज्ञकी कारणरूपा और समस्त तीर्थोंकी महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार है।'

अथर्ववेदमें गायके रोम-रोममें देवताओंका निवास बताया गया है। वेदोंने तो यहाँतक कहा है—**'एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्।'** यहाँपर गायके रूपको अखिल ब्रह्माण्डका रूप बताया गया है।

पूर्णावतार सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका सम्बन्ध तो गायके साथ अविच्छिन्न है। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा इन्द्र-पूजनकी प्रथाको बंद कराकर गोवर्धन-पूजाका शुभारम्भ इसका प्रमाण है कि गोचर-भूमिकी कितनी उपादेयता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं गो-चारण करके हमारे सम्मुख गो-सेवाका आदर्श रखा।

भगवान् श्रीकृष्णका नाम 'गोपाल' है। वन-वन घूमकर उन्हें चराना एवं गायोंकी सेवा करना उनके जीवनका विशेष कार्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य रूपोंका वर्णन करते हुए **'धेनूनामस्मि कामधुक्'** कहा है।

गो-सेवासे भगवत्प्राप्ति होती है। आस्तिक जनता-जनार्दनकी तो यहाँतक धारणा है कि यदि स्वप्नमें भी गो-दर्शन हो जाय तो वह महान् कल्याणकारी तथा व्याधिनाशक सिद्ध होता है। यात्रा तथा किसी भी शुभ कार्य आदिमें भी गायका दर्शन परम कल्याणकारक और परम सिद्धिकारक माना गया है। साथ ही किसी भी प्रकारके क्लेशमें सात्त्विकताकी मूर्ति गौमाताके ध्यान करनेपर भी विशिष्ट योगशक्तिके प्रभावसे उसके समस्त क्लेश अनायास दूर हो जाते हैं। गो-सेवासे लक्ष्मीकी प्राप्ति भी होती है। यथा—

गवां सेवा तु कर्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्धतेऽचिरात्॥

गोमाता ही वह सच्ची लक्ष्मी है जिसकी सेवासे कल्याण-ही-कल्याण होता है

गोबर तथा गोमूत्रके उर्वरक (खाद) से अन्नरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति प्रत्यक्ष ही है। गो-सेवासे पुत्र आदिकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मर्षि कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीद्वारा महाराज दिलीपको सुरभिनन्दिनीकी सेवाका परामर्श प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप दिलीपके रघु-जैसे चक्रवर्ती सम्राट् पुत्र उत्पन्न हुए। महाराज द्युमत्सेनका पुत्र गोभक्त सत्यवान् हुआ। गायकी सेवासे उसकी अल्प आयु भी दीर्घ आयुके रूपमें परिणत हो गयी। राजा नहुषसे अपना मूल्य गायके बराबर स्वीकार करके महर्षि च्यवनने गायके महत्त्वको राज्य तथा संसारके सभी पदार्थोंसे अधिक बताया।

गोसेवाकी अद्भुत महिमा है। तीर्थस्नान, ब्राह्मण-भोजन, महादान, भगवत्सेवा, समस्त व्रतोपवास, समस्त तप, पृथ्वी-पर्यटन और सत्य-भाषणसे जो-जो पुण्य होता है, वह सब पुण्य केवल गो-सेवासे तुरंत प्राप्त होता है—

तीर्थस्नानेषु यत् पुण्यं यत् पुण्यं विप्रभोजने।
यत् पुण्यं च महादाने यत् पुण्यं हरिसेवने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
भूमिपर्यटने यत्तु सत्यवाक्येषु यद् भवेत्॥
तत् पुण्यं प्राप्यते सद्यः केवलं धेनुसेवया।

'एकोऽहं बहु स्याम्' की घोषणाके अनुसार भगवान्की सृष्टिके किसी भी जीवकी हिंसा उस जीवमें बसनेवाले स्वयं ईश्वरके प्रति हिंसा है। इस मूलाधारपर ही भारतीय सनातन धर्म जीवमात्रकी हिंसाका विरोध करता है। ऐसी दशामें—

'मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।'

—सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख प्रदान करनेवाली गोमाताओंके वधकी तो कल्पना करना ही महापाप है। केवल इतना ही नहीं, गो-वध तो महापाप है ही, यहाँतक कि जिसके गृहमें गायको कष्ट मिलता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है। यथा—

'यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरकं नरः।'

इसके अतिरिक्त व्यावहारिक एवं आर्थिक दृष्टिसे भी गायका अधिक महत्त्व है। शरीर एवं मस्तिष्क—दोनोंका उत्तम रूपसे पोषण करनेवाले आहारके कारण-रूपमें गाय सार्वभौमिक राष्ट्रिय आर्थिक व्यवस्थाका केन्द्रभूत है। गोमूत्र एवं गोबर वैज्ञानिक दृष्टिसे भी स्वच्छता और पवित्रता प्रदान करनेवाला है। वर्तमान समयमें भी ग्रामीण जनता अपने घरोंको गोबरसे लीपकर उसे पवित्र एवं स्वच्छ करती है।

प्राचीन कालमें ऋषिकुलों एवं गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंको गुरुसेवा करनेके अतिरिक्त उनकी गायोंकी सेवा भी करनी पड़ती थी। प्रत्येक ऋषिकुल एवं गुरुकुलकी अपनी गायें होती थीं, जिनकी सेवा वहाँके विद्यार्थी किया करते थे। इन्हीं गोरक्षा एवं पवित्र गोपालन-कार्य करनेके कारण उन-उन ऋषियोंके नामपर विभिन्न गोत्रोंका प्रचलन हुआ।

गो-जातिसे कृषिको उर्वरक बनानेवाली खादकी भी प्राप्ति होती है, जो वैज्ञानिक विधिसे तैयार किये गये उर्वरक (कृत्रिम खाद) की अपेक्षा अधिक उत्तम है। यह स्वयं अनुभव किया जा सकता है कि रासायनिक उर्वरककी तुलनामें गो-वंशकी खादसे जो अन्नोत्पादन होता है, वह अधिक सुस्वादु, पौष्टिक एवं सद्बुद्धि प्रदान करनेवाला होता है। शास्त्रोंने **'धनं च गोधनं धान्यं स्वर्णादयो वृथैव हि'** ऐसा कहकर गोवंशको अर्थशास्त्रका मुख्य आधार बताया गया है।

प्राचीन कालमें हमारा आर्यावर्त पूर्णतया गोभक्त था और सर्वत्र गो-पालन हुआ करता था तथा दूध-घीकी नदियाँ हमारे देशमें बहा करती थीं। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका गौसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है। हमारी संस्कृतिका स्वरूप गौसे पृथक् नहीं हो सकता। इसलिये गो-वध-निषेध-विषयक कानून बनाया जाना नितान्त अपेक्षित है। गायोंमें सभी देवता, ऋषि, मुनि एवं तीर्थोंका ध्रुव निवास है। गायोंका स्मरण, दर्शन एवं गोस्तोत्रोंका पाठ भी परम कल्याणकारी है। गाय ही सच्ची लक्ष्मी है। उसके रहनेसे सुदूरतकका वायुमण्डल सात्त्विक एवं हितकारी बन जाता है। गायोंमें लेशमात्र भी दोष-पाप और दुर्गुण नहीं होते, वे सदा ही सबका कल्याण चाहती हैं। गौओंपर ही समस्त प्राणिजगत् टिका हुआ है। इसीलिये शास्त्रोंमें पृथ्वीका स्वरूप गौका ही माना गया है और गो! शब्दका मुख्य अर्थ पृथ्वी ही है। गौएँ सदा पुण्य-मूर्ति हैं। जिस यज्ञादि धर्मोंपर सारा संसार टिका है उसका सभी प्रकार मूल आधार गाय ही है। गाय जहाँ प्रसन्न रहती है, वहाँ किसी प्रकार दुःख-दुःस्वप्न, ईति-भीति टिक नहीं पाते—**'गोषु पाप्मा न विद्यते।'**

इसलिये गायें सभी प्रकार स्तुत्य, वन्द्य, पूज्य, स्मरणीय एवं पालनीय हैं। हम उन्हें अत्यन्त श्रद्धापूर्वक निरन्तर नमस्कार करते हैं।

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

श्रीरामके चरणोंकी पहचान हुए बिना मनुष्यके मनकी दौड़ नहीं मिटती, जो लोग केवल भेष बनाकर दर-दरपर अलख जगाते हैं, परंतु भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं करते, उनका जन्म वृथा है।—रहीम

पढ़ो, समझो और करो

(१)

हककी रोटी

कुछ समय पहलेकी बात है, उस समय देशमें कपड़ेका राशनिंग था और कार्डसे कपड़ा मिल सकता था। जेतपुरमें ऐसी एक दूकानपर एक भाई कपड़ा बेचा करते थे। खेतीका काम प्रायः पूर्ण हो चुका था। मूँगफलीके दाम भी चढ़े हुए थे, अतः किसानोंको अच्छी रकम हाथ लगती थी। इस प्रकार मूँगफली बेचकर उसके रुपये लिये समीपवर्ती सरधारपुर गाँवके एक किसान भाई कुछ कार्ड लेकर कपड़ा खरीदने जेतपुर आये थे। कपड़ेवालेकी दूकानपर कुछ भीड़ थी। इसलिये किसान भाईने जेबसे कार्ड निकालकर दूकानदारको दिये और कहा कि 'मैं थोड़ी देरमें आता हूँ।'

दूकानदार भाईने उन कार्डोंको ज्यों-का-त्यों एक ओर रख दिया और आये हुए अन्य कार्डोंका कपड़ा दे चुकनेके बाद दूकानदारने इन कार्डोंको हाथमें उठाया। कार्ड खोलकर देखनेपर अंदर सौ-सौ रुपयेके चौदह नोट मिले। क्षणभरके लिये दूकानदार नोटोंकी ओर देखता रहा। फिर उन कार्डोंको ज्यों-का-त्यों समेटकर उसने गद्दीके नीचे रख दिया।

थोड़ी देर बाद वे किसान भाई आये। आवश्यक कपड़ा लिया। बिल बना। रुपये देनेके लिये उन भाईने जेबमें हाथ डाला और वे बिलकुल सहम गये। उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

दूकानदारने पूछा—'क्यों, अचानक क्या हो गया?'

कुछ नहीं, कुछ नहीं, मैं अभी आता हूँ, कहकर किसान भाई खड़े हो गये।

'पर क्या हो गया? बताइये तो सही। यों घड़ीभरमें ही कैसे घबरा गये?' दूकानदारने उनको पकड़कर बैठाते हुए कहा।

'मालूम होता है—जेबसे कहीं गिर गये हैं। मैं होटलमें चाय पीने गया था। वहाँ देख आऊँ।'

'कितने थे? और यों कैसे गिर गये?'

'भाई! थे तो सौ-सौके पूरे चौदह नोट। मूँगफली बेचकर उसके दाम लेकर सीधा ही कपड़ा खरीदने चला आया था।'

'याद कीजिये, कहीं घरपर ही तो नहीं छोड़ आये?'

'नहीं-नहीं, कार्ड और नोट दोनों इस जेबमें साथ ही रखे थे। कहीं पड़ गये लगता है। नसीबमें होंगे तो मिल जायँगे। परंतु शहरोंके आदमियोंकी तरह हम लोगोंमें होशियारी नहीं होती, इसीसे ऐसा हो जाता है।' यों कहकर वे पता लगानेके लिये होटलमें जानेको खड़े हो गये।

परंतु उसी समय दूकानदारने कार्ड खोलकर नोट दिखाये, पूरे चौदह नोट। किसान भाईके मुखपर मुसकान छा गयी—'हैं, इन कार्डोंमें ही ये नोट रह गये? यह तो आप इतने भले आदमी हैं, नहीं तो, ये नोट थोड़े ही वापस मिलते। मेरा तो जी ही उड़ गया था। भगवान् आपका भला करें।'

इसपर दूकानदार बोला—'भाई! चौदह नोट देखकर अवश्य ही मन ललचा जाता है, परंतु अनीतिसे आया हुआ या लिया हुआ बिना हकका पैसा ठहरता तो है ही नहीं, घरमें पैसा होता है तो वह उसको भी टानकर ले जाता है। नीतिसे मिली हुई हककी रोटी खानेसे जो सुख और संतोष मिलता है, वह इस तरहकी अनीतिकी रोटीसे नहीं मिल सकता।'

वे किसान भाई बिलके रुपये चुकाकर भारी उपकारसे दबे बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हुए कपड़ा लेकर चले गये। खोयी हुई वस्तु मिलनेपर जैसा आनन्द होता है, उसी आनन्दकी रेखा उनके मुखपर उमड़ रही थी। दूकानदारने भी यह देखकर अपने हृदयमें बड़े आनन्दका अनुभव किया।

(अखण्ड आनन्द)

(२)

इष्टदेवताके स्मरणका अद्भुत परिणाम

घटना सन् १९५६ की है। मैं अल्मोड़ाके डिग्रीकालेजमें शिक्षण-ट्रेनिंगका छात्र था। मेरी सैद्धान्तिक विषयोंकी परीक्षाएँ समाप्त हो चुकी थीं, केवल शिक्षण-विधि-सम्बन्धी परीक्षाएँ शेष थीं। अकस्मात् उन परीक्षाओंकी तिथि भी घोषित हो गयी। मेरे शिक्षणका विषय हिन्दी तथा अंग्रेजी था। हिन्दीके लिये तो सभी तैयारियाँ पूर्ण थीं, लेकिन अंग्रेजीके शिक्षण-हेतु अंग्रेजीके विभागाध्यक्षसे पाठका अनुमोदन कराना आवश्यक था। मेरे विभागाध्यक्ष मुझसे असंतुष्ट रहते थे, उसका कारण था, मेरे द्वारा पेंट-कोट-टाईका न पहनना। उनका कहना था कि अंग्रेजी पढ़ानेके लिये वेशभूषा भी अंग्रेजी होनी चाहिये।

मैं गरीब छात्र था। बड़ी मुश्किलसे ट्यूशन कर गुजारा करता था। ऐसेमें पेंट-कोट कहाँसे सिलवाता ? अपने पिताके पुराने कोटको रँगवाकर ही प्रयोगमें ला रहा था। पाजामें भी दो ही थे। बहुत ही आर्थिक तंगी थी।

मैं यथासमय अपने विभागाध्यक्षके पास पहुँचा। उन्होंने जान-बूझकर मुझे एक पाठ दिया—'दि लामाज आफ तिब्बत।' मैं सीधा-सादा छात्र था। प्रसन्न होकर कमरेमें लौटा। लेकिन शामको मेरे दूसरे प्रोफेसरने बताया कि मुझे उस पाठको पढ़ानेके लिये एक ऐसा चित्र तैयार कराना होगा, जिसमें भारतके नक्शेमें तिब्बत दर्शाते हुए उसमें एक लामाको चढ़ते हुए दिखाना होगा। तभी पाठनकी सार्थकता होगी। मैं एक चित्रकारके पास पहुँचा। उसने बताया कि यदि कल प्रातःकालतक ही चित्र चाहिये तो उसका पारिश्रमिक एक सौ पचास रुपये होंगे। उस समय पैसेके नामपर मेरे पास कुल एकतीस रुपये बचे थे। उसीसे भोजन आदिका भी कार्य सम्पन्न करना था। मैं बहुत ही दुःखी था।

अचानक सोचते-सोचते मेरे मस्तिष्कमें एक बात सूझी। मैंने सोचा यदि मैं स्वयं प्रोफेसर होता तो क्या दूसरा पाठ नहीं ले सकता ? मैंने अपने पड़ोसी एक कक्षा ८के छात्रसे उसकी अंग्रेजीकी पुस्तक ली, उसमेंसे एक पाठ 'दि रोज' चयन कर लिया, इसमें कोई विशेष पाठन-सामग्री मुझे प्रतीत नहीं हुई। मैंने अपने अंग्रेजीके विभागाध्यक्षसे बिना परामर्श किये ही वह पाठ प्रेसमें छपवानेके लिये दे दिया। छपनेके बाद मुझे आभास हुआ कि उसमें भी पाठन-सामग्रीकी आवश्यकता होगी। कारण उस पाठमें एक वाक्य ऐसा था जिसमें जहाँगीर नूरजहाँको गुलाबका फूल देते हुए वर्णित किया गया था। मैं धर्मसंकटमें पड़ गया। अब जहाँगीर और नूरजहाँका चित्र कहाँसे लाऊँ ? फिर जहाँगीरद्वारा नूरजहाँको गुलाबका फूल देते हुए कैसे दर्शाया जाय ? बाकी गुलाबके फूलका प्रबन्ध तो मैंने अपने एक सहपाठी मित्रसे प्राप्त कर लिया था। बहुत परेशानीमें था—रातभर नींद नहीं आयी। शनिवारका दिन था, अगले दिन पाठन करना था।

मैं बचपनसे ही भगवान् भैरवनाथका उपासक रहा हूँ। अल्मोड़ेमें लक्ष्मेश्वरके निकट एक भैरवनाथका मन्दिर है। उसे कुमाँउनी भाषामें 'खुटकुणिया भैरव' के नामसे पुकारा जाता है। मैं हर शनिवारको वहाँ सायंकाल धूपबत्ती लेकर पूजा करने जाता था। उस दिन सायं समय जब मैं अपने सहपाठी मित्रके साथ वहाँ पहुँचा तो पूजा करते समय अपनी परेशानीमें रो पड़ा। आँसूकी दो बूँदें मन्दिरमें पड़ीं। मैं आँसू पोछते हुए बाहर आया। ज्यों ही ऊपर सड़कपर पहुँचा तो क्या देखता हूँ कि एक ७-८ वर्षका बालक एक पुराने चित्रको लेकर जा रहा है। मेरे मित्रका ध्यान उस बालककी ओर गया। उन्होंने उस चित्रको देखकर चौंकते हुए कहा कि 'अरे देखो ! देखो ! तुम जैसा चित्र चाहते थे वह मिल गया है।' मैंने चार आने उस बालकको देकर चित्र ले लिया और लाला बाजारमें एक पुस्तक-विक्रेताके यहाँ उसे ठीक करवाकर अगले दिन पाठनमें उसका प्रयोग किया। भगवान् भैरवनाथकी कृपासे मेरा पाठन उस दिन सर्वोत्तम माना गया, फलस्वरूप मुझे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। ऐसी है भगवान् भैरवनाथकी कृपा। तबसे जब भी मुझे कोई कष्ट होता है, मैं सदा उनका स्मरण करता हूँ। वे मेरी रक्षा करते रहते हैं।

भगवान् अपनी योगमायासे विभिन्न रूप धारणकर अपने आराधक या उपासकका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं, जिसे वह उन्हींकी कृपासे बादमें समझ पाता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको सदा सर्वसहायक भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये।

—अम्बादत्त जोशी

(३)

लड़ाई नहीं, न्याय

कुछ वर्षों पहलेकी राजस्थानकी घटना है। हरीराम और चाँदमल दोनों सगे भाई थे। एक जमीनको लेकर आपसमें मतभेद हो गया। दोनोंने एक दिन आपसमें बात की—'भाई ! मामला आपसमें तो निपटता नहीं। इससे हमलोग कचहरीमें दरख्वास्त दे दें। अपनी-अपनी बात हाकिमको सुना दें, फिर वह जो फैसला दें, उसीको मान लें।' दोनोंकी राय एक हो गयी। कोर्टमें दरख्वास्त दे दी गयी। दोनोंने परस्पर सलाह करके एक-एक वकील कर लिया और अपनी-अपनी बात वकीलोंको समझा दी। दोनों भाइयोंमें बड़ा मेल था। घरमें साथ ही खाकर परस्पर घरेलू चर्चा करते दोनों साथ ही

कचहरीमें आते। दोपहरको खानेका सामान भी दोनों एक साथ लाते, साथ ही खाते। वकीलोंको भी अपनी-अपनी बात साथ ही समझाते। दोनों ही सच बोलते। उनके इस मामलेसे सभी चकित थे। द्वेष-लड़ाईकी तो कल्पना ही नहीं, केवल निपटारा कोर्टसे कराना चाहते थे। हाकिमने उनसे कहा—'आपलोगोंके बीचमें मैं क्या बोलूँ। जहाँ इतना प्रेम है।' उन्होंने कहा—'इसीलिये तो आपके पास निपटाने आये हैं।' हाकिम हैरान थे। आखिर हाकिमने उन दोनोंमेंसे छोटे भाईको पंच बनाना चाहा। अपने ही मामलेमें आप ही पंच। उन्होंने कहा—'हाकिमका हुकुम हमें स्वीकार है।' पंचने पंचकी हैसियतसे दोनोंकी बातें सुनीं और अपने विरुद्ध बड़े भाईके पक्षमें फैसला दे दिया। अजब मामला था।

—बिलासराय

(४)

श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठसे बालक जी उठा

घटना आजसे बीस वर्ष पुरानी है। अहमदाबाद जिलेके धुंधका तालुकामें वेजलका नामका एक छोटा-सा गाँव है। गाँवके मध्यमें भगवान् श्रीरामका एक मन्दिर है, जिसके पुजारी साधु दयारामजी दुधरेजिया हैं।

एक दिन दयारामजीकी बड़ी बेटी कमला जो दस सालकी थी, अपने तीन सालके छोटे भाईको गोदमें बैठाकर मन्दिरके बरामदेपर ले आयी और उसे वहीं खेलाने लग गयी। भैयाको दालानमें बैठाकर कमला अपनी सहेलियोंके साथ खेलने लगी और खेलमें संलग्न हो गयी, उसे भाईका ध्यान ही नहीं रहा। इधर उसका छोटा भाई धीरे-धीरे खिसकता हुआ दालानके किनारेपर आ गया और वह अबोध बालक चार फुट ऊँचे दालानपरसे नीचे गिर पड़ा तथा मूर्च्छित हो गया। उसे गहरी चोट लग गयी। गिरनेकी आवाजसे कमलाका ध्यान उधर गया। अपने भाईकी ओर देखा तो वह वहाँ नहीं दिखा, वह उसे ढूँढ़ती हुई द्रुतगतिसे दौड़कर नीचे पहुँची, पर अब वह वहाँ पहुँचकर कर भी क्या सकती थी। दुःखी हो रोने लगी। उसका भाई वहाँ मूर्च्छित अवस्थामें पड़ा कराह रहा था। अगल-बगलके लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। बालककी वैसी अवस्था देखकर लोग यही अनुमान करने लगे कि अब इसकी रक्षा कर पाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। वे सभी कमलाको डाँटने लगे। वह बेचारी रुआँसी हो गयी। उसी समय दयारामजी जो मारुति-मन्दिरमें भोग लगाने गये थे, वहाँ पहुँचे और बच्चेको उठाकर घर ले आये, पहले तो वे भी कुछ निराश-से हो गये, किंतु फिर उन्हें सर्वरक्षाकारी रामरक्षास्तोत्रका ध्यान आ गया। उन्होंने बड़े विश्वासके साथ एक सौ ग्यारह बार पाठ करके एक ताबीज तैयार की और रघुनाथजीसे प्रार्थना की—'हे प्रभो ! यह बालक बिलकुल ठीक हो जाय', ऐसा कहकर उन्होंने ताबीज अपने बेटेके गलेमें बाँध दी। बालक एक दिन और एक रात मूर्च्छित पड़ा रहा और दूसरे दिन प्रातः पालनेमें देखा गया तो वह पूर्ण चैतन्यताको प्राप्त कर मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ खेल रहा था, मानो उसे कुछ हुआ ही न हो। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया था। दयारामजीके घरमें आनन्द-ही-आनन्द छा गया। श्रीरामरक्षास्तोत्रका अद्भुत प्रभाव सबने देखा और सभी चकित हो गये।

भगवत्स्मरण और उनकी प्रार्थनाका अमोघ फल है—संकटकी घड़ीमें जब कोई दूसरा आश्रय नहीं होता और प्राणी दीनभावसे प्रार्थना करता है तो भगवान् उसे अवश्य सुनते हैं।

—साधु राधेश्याम दयारामजी दुधरेजिया

(५)

चूड़ीका मूल्य

सन् १९८२की बात है। मध्यप्रदेशमें जिला छतरपुरके उपनगर नौगाँवसे दक्षिणकी ओर प्रायः आधे किलोमीटरकी दूरीपर मोहन विश्वकर्मा नामका एक नवयुवक आटा-चक्की लगाये हुए था। उससे कुछ दूरीपर यू० पी०का गाँव धौर्रा बसा हुआ है, जिसकी जनसंख्या प्रायः साढ़े तीन या चार हजार होगी। इससे इस चक्कीपर दोनों जगहोंके यानी नौगाँव और धौर्राके निवासी आटा पिसाने आया करते थे। मकर-संक्रान्तिके समयकी बात है। इस चक्कीपर नौगाँवके होटलकी एक महिला गेहूँ पिसाने आयी और 'मैं तीन घंटे बाद आटा लेने आऊँगी' यह कहकर गेहूँ तौलाकर चली गयी। जब मोहनने उसके गेहूँको चक्कीमें डालना चाहा तो उसे एक पीली-सी वस्तु दिखायी दी। बादमें उसे पता लगा कि यह तो सोनेकी चूड़ी है। उसे देखकर वह चौंक पड़ा और उसने उसे उठाकर अपने कोटकी जेबमें रख लिया, बादमें गेहूँ पीसकर

वह आटाका थैला तथा चूड़ी लेकर उसके पतेपर जा पहुँचा और उस महिलाको देने लगा। वह चौंक गयी और बोल उठी—'मोहन! यह क्या है?' मोहनने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी। वह आश्चर्यमें पड़ गयी और कहने लगी—'अरे! इस महान् अर्थपरायण लोभान्ध-युगमें तुम इतने निःस्पृह हो।' मोहनने कहा—'माताजी! ऐसी बेईमानीका पैसा मैं नहीं चाहता।' तब उस महिलाने कहा—'मोहन! तुम धन्य हो। ऐसे ही जितेन्द्रिय एवं निर्लोभी पुरुषोंके बलपर यह पृथ्वी टिकी है।'

—चन्द्रशेखर शर्मा

मनन करने योग्य
(तुला-दान)

भगवान् श्रीकृष्णका पुनीत जन्म-दिवस था। नीचे हर्षकी हरियाली और ऊपर उत्साहकी घटा छा रही थी। इस शुभ अवसरपर पट्टमहिषी सत्यभामाजीने श्रीकृष्णका तुलादान करानेका संकल्प किया। उनकी इच्छा हुई कि वे अपनी समस्त स्वर्ण-राशि एवं आभूषणोंके द्वारा ही अपने प्राणवल्लभ श्रीद्वारकाधीशका तोलन करें। देश-देशके मणि-रत्नों एवं स्वर्णाभूषणोंसे भरी अनेक मञ्जूषाएँ उनके पास थीं।

शुभ मुहूर्तमें महारानीने स्वयं श्रीकृष्णके नीलोज्ज्वल शरीरमें केसर-गर्भित अङ्गरागका लेपन किया, फिर पवित्र जलसे स्नान कराया। विल्लौर-विजडित प्राङ्गणमें रजत-तुला मँगायी गयी और श्रीकृष्ण एक पलड़ेपर इस प्रकार विराजमान हुए, जैसे सुयशकी पीठिकापर मूर्तिमान् तप सुशोभित हो। दूसरे पलड़ेपर सत्यभामाजी अपने आभूषणों और काञ्चन-उपकरणोंको रखने लगीं। धीरे-धीरे उनके सारे रत्न, आभूषण और स्वर्णराशि समाप्त हो गयी, मञ्जूषाएँ कृपणकी उदारताकी भाँति रिक्त हो गयीं, परंतु श्रीकृष्णका पलड़ा झुका ही रहा। सत्यभामाजी घबरा गयीं। जैसे जीवन-संग्राममें उनकी भयानक पराजय हो गयी हो। अनेक रानियाँ और दासियाँ यह सब देख रही थीं। श्रीकृष्ण मुसकरा रहे थे। उस मुसकानमें व्यङ्ग्यका रंग ही नहीं, स्नेहका प्रकाश भी था। निराश होकर सत्यभामाजी रुक्मिणीजीसे बोलीं—'जीजी! अब क्या होगा? मेरा तो गर्व चूर हो गया, मेरे पास तो अब कुछ नहीं रह गया। कोई युक्ति करो, सखी!'

रुक्मिणीजी सहानुभूति-शील होकर बोलीं—'मेरे गहने ले लो। पर मुझे विश्वास नहीं होता कि हमारे ये प्राणवल्लभ बहुमूल्य आभूषणों और स्वर्ण-मुद्राओंसे तुल जायँगे। अच्छा, सखी! मैं एक उपाय करती हूँ।' रुक्मिणीजी भीतर गयीं और कुछ ही क्षणोंके पश्चात् हाथमें काँचका एक लघु पात्र और कागजका एक टुकड़ा लिये हुए लौट आयीं। पात्र और पत्रको उन्होंने पलड़ेपर रख दिया। सबने हर्ष और आश्चर्यसे देखा कि वह पलड़ा झुक गया और श्रीकृष्णका पलड़ा ऊपर उठ गया। इस प्रकार श्रीकृष्णजी तुल गये। सत्यभामाजीकी बात रह गयी। अहंकारने विनयके सम्मुख सिर झुकाया।

सत्यभामा रुक्मिणीको छातीसे लगाती हुई बोलीं—'जीजी! तुमने यह कौन-सा त्रोटक कर दिया? क्या उस काँचके पात्रमें कोई जादू था? क्या इस कागजमें कोई मन्त्र लिखा था?' श्रीकृष्णजीने कागज खोलकर पढ़ा। उसमें बस इतना ही लिखा था—'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ।' फिर हँसकर पूछा—'वैदर्भी! इस शीशीमें तुमने क्या भर रखा है, जिसकी गुरुताके समक्ष मुझे हल्का होना पड़ा।'

रुक्मिणीजी सकुचाती हुई बोलीं—'इसमें मेरे कुछ आँसू भरे पड़े हैं।'

'आँसू?' विस्मय-विस्फारित होकर सत्यभामाजी बोल उठीं।

रुक्मिणीजी उसी सरलतासे बोलीं—'हाँ सखी! जब कभी प्रिय (माधव) के हेतु आँसू झर पड़ते थे तो मैं इन्हें प्रियका उपहार मान सँजो लेती थी….।'

'अच्छा, यह बात है! मैं समझी। तुम धन्य हो जीजी।' सत्यभामाके मुखसे इतने ही शब्द निकले। उसने श्रीकृष्णके पावन पदारविन्दोंपर मस्तक रख दिया। इसी क्षण नगारे बज उठे, मेघ मन्द स्वरमें गरज उठे। रसके फुहारोंसे सब सिक्त हो उठे।

परमार्थ-साधनके आठ विघ्न

भगवत्प्राप्तिके साधकको या परमार्थ-पथके पथिकको एक-एक पैर सँभालकर रखना चाहिये। इस मार्गमें अनेकों विघ्न हैं। उनमेंसे आलस्य, विलासिता, प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, गुरुपना, बाहरी दिखावा, पर-दोष-चिन्तन और सांसारिक कार्योंकी अत्यन्त अधिकता—ये आठ प्रधान हैं, इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१-आलस्य—आलसी मनुष्यका जीवन तमोमय रहता है। वह किसी भी कामको प्रायः पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। वह परमार्थकी बातें सुनता-सुनाता है, उसे अच्छी भी लगती हैं, परंतु आलस्य उसे साधनमें तत्पर नहीं होने देता। श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्यके कारण उद्देश्य-सिद्धितक नहीं पहुँच पाता। इसीलिये श्रद्धाके साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान्ने गीतामें बतलायी है। आलस्यसे तत्परताका विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे।' जब कभी उसके मनमें कुछ करनेकी भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदिके रूपमें आकर उसे घेर लेता है, अतएव आलस्यको साधन-मार्गका एक बहुत बड़ा शत्रु मानकर जिस-किसी उपायसे भी उसका नाश करना चाहिये।

२-विलासिता—विलासी पुरुषको मौज-शौकके सामान जुटानेसे ही फुरसत नहीं मिलती, वह साधन कब करे? पहले सामान इकट्ठा करना, फिर उससे शरीरको सजाना, यही उसका प्रधान कार्य होता है। कभी साधु-महात्माका संग करता है तो उसकी क्षणभरको यह इच्छा होती है कि मैं भी भजन करूँ, परंतु विलासिता उसको ऐसा करने नहीं देती। भाँति-भाँतिके नये-नये फैशनके सामान संग्रह करना और उनका मूल्य चुकानेके लिये अन्याय और असत्यकी परवा न करते हुए धन कमानेके काममें लगे रहना—इन्हींमें उसका जीवन बीतता है। शौकीन मनुष्यके धनका अभाव तो प्रायः बना ही रहता है; क्योंकि वह आवश्यक-अनावश्यकका ध्यान छोड़कर जहाँ कहीं भी कोई शौककी बढ़िया चीज देखता है, उसीको खरीद लेता है या खरीदना चाहता है। न रुपयोंकी परवा करता है और न अन्य किसी प्रकारका परिणाम सोचता है। सुन्दर मकान, बढ़िया-बढ़िया बहुमूल्य महीन वस्त्र, सुन्दर भोजन, इत्र-फुलेल, कंघे, दर्पण, जूते, घड़ी, छड़ी, पाउडर आदिकी तो बात ही क्या है, खाने-पहनने, बिछाने, बैठने, चलने-फिरने, सूँघने, देखने और सुनने-सुनाने आदि सभी प्रकारके सामान उसे बढ़िया-से-बढ़िया और सुन्दर-से-सुन्दर चाहिये। वह रात-दिन इन्हींकी चिन्तामें लगा रहता है। वैराग्य तो उसके पास भी नहीं फटकने पाता। वह कभी-कभी भगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन्! मेरे मनमें आपके प्राप्त करनेकी इच्छा है, परंतु मेरे शौकके सामान सदा बने रहें, मुझे नये-नये विलास-द्रव्योंकी प्राप्ति होती रहे और मैं इसी प्रकार विलासितामें डूबा हुआ ही आपको भी पा लूँ।' कहना नहीं होगा कि यह प्रार्थना भी उसकी क्षणभरके लिये ही होती है। ऐसे लोगोंको करोड़पतिसे कंगाल होते देखा जाता है और अर्थ-कष्टके साथ ही आदतसे प्रतिकूल स्थितिमें रहनेको बाध्य होनेका एक महान् कष्ट उन्हें विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। जो मनुष्य भगवत्प्राप्ति तो चाहता है, परंतु वैराग्य नहीं चाहता और सादा जीवन बितानेमें संकोचका अनुभव करता है, वह भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः विलासिताके भावको मनमें आते ही उसे तुरंत निकाल देना चाहिये। यह भाव तरह-तरहकी युक्तियाँ पेश करके पहले कर्तव्य समझाकर आश्रय प्राप्त कर लेता है, फिर बढ़कर मनुष्यको तबाह कर डालता है, अतएव इससे विशेष सावधान रहना चाहिये। विलासी पुरुषोंका संग करना या उनके आस-पास रहना भी विलासितामें फँसानेवाला है। इसलिये विलासिताको परम शत्रु समझकर इसका सर्वथा नाश करके सभी बातोंमें सादगीका आचरण करना चाहिये। विलासितामें अनेक हानियाँ हैं, परंतु निम्नलिखित दस हानियाँ तो होती ही हैं, इस बातको याद रखना चाहिये।

१. धनका नाश, २. आरोग्यताका नाश, ३. आयुका नाश, ४. सादगीके सुखका नाश, ५. देशके स्वार्थका नाश, ६. धर्मका नाश, ७. सत्यका नाश, ८. वैराग्यका नाश, ९. भक्तिका नाश और १०. ज्ञानका नाश।

३-प्रसिद्धि—संसारमें ख्याति साधन-मार्गका

एक बड़ा विघ्न है। इसीसे संतोंने भगवत्प्रेमको वैसे ही गुप्त रखनेकी आज्ञा दी है जैसे भले घरकी स्त्री जारके अनुरागको छिपाकर रखती है। साधककी प्रसिद्धि होते ही चारों ओरसे लोग उसे घेर लेते हैं। साधनके लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है। उसका अधिक समय सैकड़ों-हजारों आदमियोंसे बातचीत करने और पत्र-व्यवहारमें बीतने लगता है। जीवनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी बनने लगती है। होते-होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है। वह बाहरके कामोंमें ही लग जाता है और क्रमशः गिरने लगता है। परंतु प्रसिद्धिमें प्रिय भाव उत्पन्न हो जानेके कारण उसे वह सदा बढ़ाना चाहता है और यों प्रतिदिन अधिकाधिक लोगोंसे परिचय प्राप्त कर लेता है। फिर उसका असली साधकका स्वरूप तो रहता नहीं, परंतु प्रसिद्धि कायम रखनेके लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात-दिन जलता और नये-नये ढोंग उसी प्रकार रचा करता है, जैसे निर्धन मनुष्य धनी कहानेपर अपने उस झूठे दिखाऊ धनीपनको कायम रखनेके लिये अंदर-ही-अंदर जलता और जाल रचता रहता है। उसका जीवन कपट, दुःख और संतापका घर बन जाता है। ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये—जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है उससे ज्यादा भजन होता है तो भी अधिक डर नहीं है। जितना भजन होता है, उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है। जितना भजन होता है, उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है,वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका।

४-मान-बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है। देखनेमें बहुत ही मनोहर लगता है, परंतु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। संसारके बहुत बड़े-बड़े पुरुषोंके बहुत बड़े-बड़े कार्य मान-बड़ाईके मोलपर बिक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बह जाते हैं। मानकी अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है, लोग प्रशंसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे बैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देखे जाते हैं। बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ। आगे चलकर तो उसके सभी काम बड़ाईके लिये ही होते हैं। जबतक साधनसे बड़ाई होती है, तबतक वह साधकका भेष रखता है। जहाँ किसी कारणसे परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें बड़ाई होती है उसीमें लग जाता है। क्योंकि अब उसे बड़ाईसे ही काम है, भगवान्‌से नहीं। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परंतु सावधान, यह वासना बहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम बड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं, परंतु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और बड़ाई सुनते ही मनमें संतोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होंठोंपर हँसीकी रेखा-सी चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाईके लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परंतु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

५-गुरुभाव—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरुभावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचायेगा ? ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है, जैसे अन्धा अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थपथमें गुरु बननेका अधिकार उसीको है जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका है। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंके पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्रायः बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता

है। दलबंदी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। राग-द्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है।

६-बाहरी दिखावा—साधनमें दिखावेकी भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है, परंतु पीछे उसमें प्रायः दिखावेका भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय। भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ। वस्त्र इस ढंगसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ।' ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें ही रह सकते हैं। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालोंमें दिखावेका भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्रायः हुआ करती है। अंदर सचाई होनेपर भी दिखावेकी चेष्टा साधकको गिरा ही देती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

७-पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधकको अपने दोष देखने चाहिये तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये। जगत्‌की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

८-सांसारिक कार्यकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके, यहाँतक कि परोपकारतकके कार्य उसी हदतक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घंटे-दो-घंटे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है। उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है। वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं, जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है। असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन संग्रह करनेवालोंके मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थ संचय करनेवालोंके दुःख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परंतु धन संचय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है, परंतु जो सीधे या प्रकारान्तरसे धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्रायः निष्काम-भाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये जितनेमें गृहस्थीका खर्च सादगीसे चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले। कर्तव्यपालनकी तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्प्राप्ति' का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे।
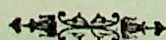
'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' के ६४वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क आपकी सेवामें प्रस्तुत है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित होनेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी ६५ वें वर्ष (विक्रम-संवत् २०४८)के विशेषाङ्कके रूपमें 'योगतत्त्वाङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ है। हमारे आध्यात्मिक जीवन तथा साधनाके क्षेत्रमें 'योग' को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। भारतीय सनातन संस्कृति तथा शास्त्रोंने योगको ईश्वर-प्राप्ति तथा भगवत्साक्षात्कारका मुख्य साधन माना है एवं उसके प्रति अपार श्रद्धा तथा आस्था व्यक्त करते हुए उसे भगवान्‌का अन्यतम स्वरूप भी बतलाया है। वस्तुतः योगाभ्यास और योग-साधना लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही दृष्टिसे लाभप्रद और कल्याणकारी है। अतः योगकी सर्वमान्य महत्ताके विचारसे एवं वर्तमानमें इसके प्रति विशिष्ट तथा सर्वसाधारण जनों—सभीके श्रद्धा तथा आकर्षणको देखते हुए इस साधनोपयोगी विषयका चयन आगामी विशेषाङ्कके लिये किया गया है।

इस अङ्कमें योगकी परिभाषा, महत्त्व, स्वरूप-तत्त्व एवं योग-साधनाके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंका विवेचन रहेगा। साथ ही विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों, योगासनों और प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः सभी सुप्रसिद्ध योगसिद्ध महात्माओं और सत्पुरुषोंकी योगमय दिनचर्याओं, साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंपर भी रोचक भाषा-शैलीमें उपादेय सामग्री रहेगी। प्रसङ्गानुसार सुन्दर रंगीन, सादे तथा रेखा-चित्र भी रहेंगे। इस प्रकार 'कल्याण'की परम्परानुसार यह विशेषाङ्क भी अपने प्रतिपाद्य विषयका एक अन्यतम संग्रह होगा—ऐसी आशा है।

निरन्तर बढ़ती हुई महँगाई तथा मूल्य-वृद्धिके कारण इस वर्ष कागज, स्याही, मुद्रण-सामग्री, वेतन तथा छपाई आदिके खर्चोंमें अप्रत्याशित रूपसे वृद्धि हुई है एवं यह क्रम अभी भी जारी है। इसके अतिरिक्त डाकखर्च भी पर्याप्त बढ़ गया है। फलस्वरूप वर्तमानमें 'कल्याण'का लागत-व्यय अत्यधिक बढ़ गया है। संस्थाकी नीतिके अन्तर्गत यद्यपि हम 'कल्याण'के वार्षिक शुल्कमें किसी प्रकारकी वृद्धि करना नहीं चाहते, परंतु वर्तमान परिस्थितिमें निरन्तर बढ़ते हुए घाटेको दृष्टिगत रखते हुए हमें विवश होकर वार्षिक शुल्कमें ११.०० (ग्यारह रुपये)की वृद्धिका निर्णय न चाहते हुए भी लेना पड़ा। अतएव आगामी वर्ष (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २०४८, अप्रैल सन् १९९१)से 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये)के स्थानपर ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र, डाक-व्ययसहित निश्चित किया गया है। आशा है, 'कल्याण'-प्रेमी सभी महानुभाव परिस्थितिजन्य हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए इसे कृपापूर्वक सहर्ष स्वीकार करेंगे। विदेशके लिये वार्षिक शुल्क ५ पौंड या ८ डालर है।

वार्षिक शुल्क सीधे मनीआर्डरद्वारा भेजने या 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुरमें उपस्थित होकर जमा कराने अथवा गीताप्रेसकी (कलकत्ता, पटना, दिल्ली, कानपुर, वाराणसी, हरिद्वार, स्वर्गाश्रम—ऋषिकेश स्थित) निजी दुकानोंपर जमा करने अथवा अन्यान्य 'कल्याण'-वितरकों और पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ जमा करानेपर शुल्क-राशिमें कोई अन्तर नहीं होगा, अर्थात् प्रत्येक स्थितिमें समानरूपसे एक ही वार्षिक शुल्क ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र ही सुनिश्चित है। परंतु वी॰ पी॰ पी॰ द्वारा अङ्क मँगानेपर ५.००(पाँच रुपये) वी॰ पी॰ पी॰ डाकखर्चके जोड़कर कुल ६०.००(साठ रुपये) मात्र देय होंगे। अतएव ५.००(पाँच रुपये)के इस अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये 'कल्याण'-प्रेमी सभी महानुभावोंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे वी॰ पी॰ पी॰की प्रतीक्षामें न रहकर 'कल्याण'के निमित्त अपना वार्षिक शुल्क कृपया अग्रिम मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। वार्षिक शुल्क-राशि अग्रिम भेजनेवाले सज्जनोंको अङ्क भेजनेमें प्राथमिकता दी जायगी। अतः विशेषाङ्क शीघ्र सुरक्षित और निरापद प्राप्त करनेके लिये सभी सज्जनोंको शुल्क-राशि मनीआर्डर अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा अग्रिम भेजना ही उचित और सुविधाजनक है।

ग्राहकोंके सुविधार्थ मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है, अतः सभी ग्राहक सज्जन मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि अपने डाकघरके पिनकोड नम्बरसहित सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। पुराने ग्राहक हों तो अपनी ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे अङ्कोंका प्रेषण सही,

शीघ्र, सुगम और सुरक्षित हो सकेगा। मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अङ्कित न होने अथवा 'पुराना' या 'नया ग्राहक' न लिखे होनेकी दशामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० पी० और नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री चले जानेसे ग्राहक महानुभावों तथा 'कल्याण'-कार्यालय दोनोंको अनावश्यक खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी। अतएव 'कल्याण'-व्यवस्थाके सुविधार्थ मनीआर्डर-कूपनपर अपनी वर्तमान ग्राहक-संख्या कृपया अवश्य लिखें।

कोई भी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता, प्रतिष्ठान या 'कल्याण'-प्रचारके इच्छुक सज्जन विशेषाङ्ककी कम-से-कम ५० प्रतियाँ या इससे अधिक (पचपन रुपये प्रति 'कल्याण' वार्षिक दरसे) एक साथ मँगाकर 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें सहयोग दे सकते हैं। ऐसा करनेपर उन्हें ५.०० (पाँच रुपये) मात्र प्रतिग्राहककी दरसे प्रोत्साहन-राशि (कमीशन)के रूपमें दी जायगी, किंतु उन महानुभावों या प्रतिष्ठानोंको पूरे वर्षभर अपने द्वारा बनाये हुए सभी ग्राहकोंको प्रतिमास 'कल्याण' अपने निजी साधनोंसे ही पहुँचाने होंगे, अर्थात् उनके द्वारा बनाये गये ऐसे सभी ग्राहकोंका यहाँसे कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। अपितु, पूरे वर्षपर्यन्त मासिक अङ्क-वितरणका पूरा दायित्व ग्राहक बनानेवालोंको ही वहन करना होगा।

जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश नये वर्ष (विक्रम-संवत् २०४८, तदनुसार सन् १९९१-९२)में 'कल्याण'का ग्राहक न रहना हो, उन्हें इसकी अग्रिम सूचना 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर'के पतेपर समयसे पूर्व ही अवश्य दे देनी चाहिये। उस स्थितिमें उनकी ग्राहक-संख्या निरस्त हो जानेसे वी० पी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेकी सम्भावना समाप्त हो जायगी, जिससे आपका अपना 'कल्याण' अनावश्यक डाक-खर्चकी हानिसे बच सकेगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

Important Information for Subscribers of THE KALYANA-KALPATARU

We are glad to inform the subscribers of the "Kalyana-Kalpataru" that we are despatching the Special Issue (Śiva-Number)of October 1990 to those subscribers who have already remitted the amount of the subscription. We have tried to include articles by saints and scholars on various aspects of Lord Śiva. We hope that this issue will inspire spiritual thoughts and will enlighten you on various aspects of Lord Śiva.

Under some extra-ordinary circumstances beyond our control, the publication of the Special Issue (Śiva-Number) has been delayed. Readers are requested to bear with us and excuse us for any inconvenience caused to them due to this delay.

We have published the Special Issue of the "Kalyana-Kalpataru" in very limited numbers. Desiring persons may remit Rs. 30/- by M.O. or by Bank Draft to get the same.

We appeal to the readers of the "Kalyana-Kalpataru" to lend us a helping hand in pushing on our efforts to place the spiritual thoughts within reach of every house. We humbly request our present subscribers to continue to help us by enlisting their friends, relatives and other acquaintances as subscribers. The subscription is almost nominal looking to the precious matter and charming pictures, the Kalyana-Kalpataru supplic[illegible] its readers.

Co[illegible]eration from the subscribers is solicited. All correspondence may please be addressed to:—

The Manager
The Kalyana-Kalpataru
Gita Press
P.O. Gita Press—273005
Gorakhpur (U.P.)